"मोहन राकेश के नाटकों में स्त्री चेतना"

बाबासाहेब भीमराव अम्बेडकर विश्वविद्यालय
लखनऊ के हिन्दी विभाग में
मास्टर ऑफ फिलॉसफी की उपाधि
हेतु प्रस्तुत

लघु शोध–प्रबन्ध

BABASAHEB
BHIMRAO
AMBEDKAR
UNIVERSITY
LUCKNOW
प्रज्ञा शील करूणा
ESTABLISHED 1990

प्रीति राय
शोध–निर्देशिका
डॉ0 प्रीति राय
सहायक आचार्य
हिन्दी विभाग

Pinki
शोधार्थी
कु0 पिंकी
पंजीयन क्रमांक : 1173/18
हिन्दी विभाग

हिन्दी विभाग
भाषा एवं साहित्य विद्यापीठ
बाबासाहेब भीमराव अम्बेडकर विश्वविद्यालय
(केन्द्रीय विश्वविद्यालय)
विद्या विहार, रायबरेली रोड, लखनऊ–226025

2020–2021

घोषणा पत्र

मैं, पिंकी यह घोषणा करती हूँ कि **"मोहन राकेश के नाटकों में स्त्री चेतना"** प्रस्तुत लघु शोध–प्रबन्ध मेरे द्वारा संग्रहित तथ्यों पर आधारित है तथा मास्टर ऑफ फिलॉसफी की उपाधि हेतु प्रस्तुत यह लघु शोध–प्रबन्ध मेरा मौलिक कार्य है। इसे अंशतः या पूर्णतः इस विश्वविद्यालय या किसी अन्य संस्थान में किसी उपाधि हेतु प्रस्तुत नहीं किया गया है। यह शोध कार्य मैंने **डॉ0 प्रीति राय,** सहायक आचार्य, हिन्दी विभाग, बाबासाहेब भीमराव अम्बेडकर विश्वविद्यालय, लखनऊ के निर्देशन एवं मार्गदर्शन में पूरा किया है।

मैं घोषणा करती हूँ कि इस शोध कार्य को पूरा करने में मैंने विश्वविद्यालय के शोध संबंधित सभी नियमों का पालन किया है। मैं यह भी घोषणा करती हूँ कि यह शोध कार्य पूर्णतः साहित्यिक चोरी से मुक्त है।

दिनांक :

शोधार्थी

पिंकी

पंजीयन क्रमांक : 1173/18
हिन्दी विभाग,
भाषा एवं साहित्य विद्यापीठ
बाबासाहेब भीमराव अम्बेडकर विश्वविद्यालय,
विद्या विहार, रायबरेली रोड, लखनऊ

CERTIFICATE

This is to certify that the M.Phil. Dissertation titled "मोहन राकेश के नाटकों में स्त्री चेतना" submitted by **Ms. Pinki** is an original research work and has not been previously submitted in part or full for the award of any other degree or diploma to this or any other university.

The M.Phil. Dissertation submitted to Babasaheb Bhimrao Ambedkar University, Lucknow satisfies all the requirements as stipulated in the Master of Philosophy (M.Phil.) Regulation (2016) as amended in 2019 and it is fit for submission and evaluation for the award of the degree of Master of Philosophy of the University.

Date: **Supervisor**

Head of the Department

आभार

मेरा यह परम सौभाग्य है कि मुझे आदरणीय **डॉ0 प्रीति राय** के सानिध्य में शोध कार्य करने का सुअवसर प्राप्त हुआ और उनके सफल निर्देशन से ही मेरा शोध कार्य सम्पन्न हुआ है। इसके साथ ही हिन्दी विभाग के अन्य गुरुजनों का भी बराबर सहयोग मिलता रहा है, जिनकी मैं कृतज्ञ हूँ। अपने गुरु प्रो0 सर्वेश सिंह (हिन्दी विभागाध्यक्ष), प्रो0 रामपाल गंगवार, डॉ0 शिवशंकर यादव, डॉ0 बलजीत कुमार श्रीवास्तव एवं डॉ0 नमिता जैसल का विशेष योगदान रहा है, जिनके कुशल निर्देशन एवं प्रोत्साहन से मैं अपना शोधकार्य सुचारु रूप से सम्पन्न कर पायी।

इस शोध–प्रबन्ध में अभूतपूर्व योगदान मेरी माँ श्रीमती सजन, पिता जी एवं बहन रिंकू का रहा है। परिवार के अन्य सदस्यों का भी सहयोग मुझे उत्साहित एवं मार्गदर्शित करता रहा है। स्त्री जीवन की एक प्रमुख समस्या पारिवारिक स्वतंत्रता का न मिलना भी है, लेकिन इस बंधन से मैं मुक्त रही हूँ, यही कारण है कि मैं शैक्षणिक क्षेत्र में निरन्तर अग्रसर रही और मेरा यह शोध कार्य नियमित रूप से एवं सही समय पर सम्पन्न हुआ। मैं अपने इस पारिवारिक सहयोग को कोटि–कोटि नमन एवं हृदय से आभार व्यक्त करती हूँ।

इसके अतिरिक्त मेरे इस शोध कार्य को सफलतापूर्वक सम्पन्न कराने में हमारे सम्बन्धी–नीलम त्रिपाठी, अतुल कुमार त्रिपाठी एवं शुभम त्रिपाठी का सहयोग रहा है। आप सभी के असीम अनुराग एवं पथ–प्रदर्शन से मैं हमेशा प्रथम स्थान पर रही। आपकी इस सहृदयता के लिए बहुत–बहुत आभार। समाज के प्रत्येक पहलुओं से अवगत कराने तथा

छाया की तरह साथ–साथ चलने एवं अपार योगदान के लिए शुभ्भू को हार्दिक आभार व्यक्त करती हूँ।

मेरे इस शोध कार्य में अन्य मित्रगण एवं प्रियजनों का भी बराबर सहयोग मिलता रहा है। विशेष रूप से विभा त्रिपाठी, वन्दना शुक्ला, सोनी तिवारी, प्रिया पाण्डेय, सरिता यादव, श्वेता मिश्रा, गौरव कुमार, दीप्ति, अनीता, सुनीता, शशिबाला, अल्पना वर्मा तथा हिन्दी विभाग के अन्य सहयोगी जनों का विशिष्ट योगदान रहा है, जिनकी मैं आभारी हूँ। इसके अतिरिक्त प्रत्यक्ष, अप्रत्यक्ष रूप से जिसने भी सहायता की है, उन सभी मित्रों के प्रति भी बहुत–बहुत आभार व्यक्त करती हूँ।

भूमिका

हिन्दी नाट्य इतिहास में मोहन राकेश का अप्रतिम योगदान रहा है और इन्होंने नाट्य पूर्व परम्परा को तोड़ते हुए एक नवीन मानदण्ड स्थापित किया है। वैसे तो हिन्दी क्षेत्र नाटक विधा से भरा पड़ा है, परन्तु मोहन राकेश के नाटकों के प्रति हमारी विशेष रुचि रही है। लेखक के नाटकों में स्त्री सम्बंधी जो भी स्थिति है सभी से मैं प्रभावित हूँ, इसीलिए मैंने अपने लघु शोध–प्रबन्ध हेतु **''मोहन राकेश के नाटकों में स्त्री चेतना''** शीर्षक का चुनाव किया है। मोहन राकेश स्वतंत्र्योत्तर युग के एक प्रसिद्ध नाटककार हैं। उन्होंने नाटकों के संवाद, कथ्य एवं रंगमंच को लेकर विशेष कार्य किया है, यही कारण है कि राकेश जी अधिक कहानियाँ लिखने के बाद भी नाटककार के रूप में प्रसिद्ध हैं। अपने इस अविस्मरणीय योगदान से नाट्य जगत् को नवीन आयाम प्रदान किया। इन्होंने आषाढ़ का एक दिन, लहरों के राजहंस, आधे–अधूरे नाटकों के माध्यम से भारतीय समाज के मध्यवर्गीय परिवारों में व्याप्त पारिवारिक विसंगतियों एवं स्त्री संघर्ष को बखूबी उजागर किया है। स्त्री को सिर्फ किसी एक पहलू से लड़ना नहीं होता है, बल्कि समाज के अनेक रीति–रिवाजों, परम्पराओं एवं धार्मिक जैसी बाह्य जिम्मेदारियों के साथ–साथ आन्तरिक कारणों से भी जूझना पड़ता है।

मेरा यह शोध कार्य चूँकि लघु शोध प्रबन्ध है, इसलिए इसकी सीमा को ध्यान में रखते हुए चार अध्याय में विभक्त किया है। **प्रथम अध्याय–'मोहन राकेश का व्यक्तित्व एवं कृतित्व'** में राकेश जी के जन्म, परिवार, शिक्षा–व्यवसाय, वैवाहिक जीवन, उनकी विशेष रुचियों, विशेषताओं एवं कृतित्व रचना संसार को प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है। लगभग साहित्यकारों का कृतित्व उनके व्यक्तित्व से प्रभावित अवश्य रहता

है, इस दृष्टि को ध्यान में रखते हुए मैंने प्रस्तुत अध्यायीकरण किया है। **द्वितीय अध्याय–'स्त्री चेतना का तात्पर्य'** है। प्रस्तुत अध्याय में स्त्री जीवन के विविध पक्षों को उद्घाटित किया गया है। **तृतीय अध्याय–'मोहन राकेश के नाटकों में स्त्री चेतना के विविध आयाम'** में स्त्रीत्व बोध को ध्यान में रखते हुए विवाह और पुरुष के प्रति पारम्परिक दृष्टिकोण, पारिवारिक संरचना और आधुनिक दृष्टिकोण, नारी का विद्रोह, धर्म, परम्परा एवं मातृत्व के प्रति नवीन दृष्टिकोण को विश्लेषित करने का प्रयास किया गया है। लघु शोध प्रबन्ध के अन्तर्गत मोहन राकेश के नाटकों में वर्णित शिल्पगत वैशिष्ट्य को उद्घाटित करने का प्रयास किया गया है। शोध प्रबन्ध **''मोहन राकेश के नाटकों में स्त्री चेतना''** के अन्त में **उपसंहार** के अन्तर्गत निष्कर्ष के रूप में समस्त शोध कार्य का सार प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है और लघु शोध–प्रबन्ध के अन्त में **सन्दर्भ ग्रन्थ–सूची, आधार ग्रन्थ–सूची, सहायक ग्रन्थ–सूची** के साथ **पत्रिका, वेबसाइट** एवं **पुस्तकालय** से सम्बन्धित जानकारी की गयी है।

अनुक्रमणिका

अध्याय	विवरण	पेज नं0
	भूमिका	
प्रथम अध्याय	**मोहन राकेश का व्यक्तित्व एवं कृतित्व**	1–42
1.	व्यक्तित्व	1
2.	कृतित्व	25
द्वितीय अध्याय	**स्त्री चेतना का तात्पर्य**	43–57
1.	स्त्री चेतना का तात्पर्य	43
तृतीय अध्याय	**मोहन राकेश के नाटकों में स्त्री चेतना के विविध आयाम**	58–96
1.	विवाह संस्था और पुरुष के प्रति पारम्परिक दृष्टिकोण	58
2.	पारिवारिक सरंचना एवं आधुनिक दृष्टिकोण	64
3.	नारी का विद्रोह	72
4.	धर्म एवं परम्परा	83
5.	मातृत्व के प्रति नवीन दृष्टिकोण	87
चतुर्थ अध्याय	**शिल्पगत वैशिष्ट्य**	97–154
1.	कथावस्तु	97
2.	पात्र–योजना	111
3.	नाट्य संवाद	117
4.	भाषा–शैली	129
5.	वेश–भूषा एवं साज–सज्जा	142
6.	रंगमंचीयता की दृष्टि से नाटक	143
	उपसंहार	155–157
	संदर्भ ग्रन्थ सूची	158–161

प्रथम अध्यायः मोहन राकेश का व्यक्तित्व एवं कृतित्व

(1) व्यक्तित्व–

आधुनिक हिन्दी नाट्य साहित्य के अग्रदूत 'मोहन राकेश' का जन्म 8 जनवरी सन् 1925 ई0 को 'पंजाब' राज्य के अमृतसर जिले में हुआ था। राकेश जी के पिता करमचन्द्र गुगलानी पेशे से एक प्रतिष्ठित और शहर के नामी वकील थे। करमचन्द्र गुगलानी साहित्यिक, सांस्कृतिक संस्थाओं में सक्रिय रहने वाले, कला, साहित्य, धार्मिक कार्यो आदि में रूचि एवं बहुआयामी व्यक्तित्व के धनी व्यक्ति थे। राकेश जी का बचपन और पारिवारिक वातावरण सन्तुलित नहीं था। इस अभाव को व्यक्त करते हुए इन्होंने अपनी डायरी में लिखा है कि– ''मेरा जन्म एक तंग शहर की छोटी सी गली के एक बहुत अन्धेरे घर में हुआ और जो वातावरण मुझे आरम्भ में मिला, उसमें भी सराहनीय कुछ नहीं था।''[1] राकेश जी के घर के पीछे ही कन्जरों की बस्ती थी, जिसके कारण लेखक को बाहर की गली में बच्चों के साथ खेलनें नहीं दिया जाता था। यदि कभी चोरी से भाग भी जाते तो तुरन्त पकड़ कर घर के अन्दर कर दिये जाते। घर भी सीलन से भरा रहता और बाहर की नालियों से हमेशा बदबू आया करती, जिसके कारण घर के दरवाजे बन्द रहते थे। घर में इतना अन्धेरा रहता कि घर की ही सीढ़ियाँ नहीं दिखती थीं। घर में दम घुटता, इसीलिए राकेश को आस–पास के परिवेश से घृणा हो गयी। अपनी इस घुटन भरी जिन्दगी का वर्णन करते हुए अपनी डायरी में लिखते हैं कि–''मुझे ऐसे लोगों से स्पर्धा होती है, जो देवघरों से लदे हुए उन पहाड़ी प्रदेशों में पैदा हुए जहाँ गिरते और मचलते हुए पहाड़ी झरनों ने उनकी विस्मित शिशु

आँखों को अपने सौन्दर्य से भर दिया था। जिन्हें बचपन में खेलने को खुले समुद्र तट मिले जहाँ वे रेत के घरौंदे बनाते और बिखेरते रहें।''[2]

पिता जी प्रेमवश राकेश जी को मदन मोहन गुगलानी बुलाते थे और यही बचपन का मूलनाम भी था, जिसे राकेश जी और उनकी बहन समय–समय पर परिवर्तित करते रहते थे। इस सन्दर्भ में जयदेव तनेजा अपनी रचना 'आधुनिक भारतीय नाट्य विमर्श' में लिखते हैं कि ''मोहन राकेश के जन्म का नाम मदनमोहन गुगलानी था। सन् 1946 तक वह मदन मोहन राकेश के नाम से लिखते रहें। और 1947 तक म0 मोहन 'राकेश' के नाम से 1949 में उन्होंने मदन पूरी तरह छोड़ दिया और 'मोहन राकेश' बन गए। 1955–54 के बाद उन्होंने मोहन राकेश को अपनाया, जो आज तक चल रहा है और कभी–कभी संक्षिप्त होकर राकेश ही रह जाता है।''[3]

मोहन राकेश का पारिवारिक जीवन एक तरफ कष्टप्रद था, तो दूसरी तरफ प्रेरणास्रोत भी। पिता साहित्य प्रेमी होने के कारण घर में ही आलोचकों एवं साहित्यकारों की मित्रमण्डली इकट्ठा करते, जिसे राकेश जी बहुत ध्यान से सुनते। यही कारण था कि इस परिवेश का प्रभाव लेखक पर बहुत गहरा पड़ा और कम उम्र में कविता एवं कहानी लिखने लगें। पिता जी वकील अवश्य थे, परन्तु आर्थिक तंगी हमेशा बनी रही, घर भी किराये का था। राकेश जी का बचपन दादी माँ के आश्रय में व्यतीत हुआ। दादी माँ एक अनुशासन प्रिय महिला थीं। एक तरफ दादी का असीम अनुराग था, तो दूसरी ओर उनका दबाव एवं शासन भी कम नहीं था। दादी बाहर बच्चों के साथ खेलने नहीं देती थीं। भूतप्रेत, चमगादड़, डायन का भय हमेशा बनाए रखती, दूसरी ओर इन डरों से मुक्त भी करती। राकेश जी ज्यादातर दादी माँ के ही पास रहें, अपनी माँ के पास

बहुत कम रहते थे। मोहन राकेश का प्रारम्भिक जीवन स्वतन्त्र जीवन से बिल्कुल भिन्न था। बचपन जितना अनुशासन, भय, डर और अभाव में बीता, उतना ही बाद की जिन्दगी स्वतन्त्र, निडर एवं इच्छा अनुकूल व्यतीत हुई।

घर में अक्सर स्त्रियों का झगड़ा होता था, आस–पास के लोगों को लेकर हमेशा एक प्रश्न चिन्ह लगा रहता, सोचते–सोचते, कभी–कभी मन में हलचल हो जाती तो चोरी से घर से भाग गलियों में निकल जाते, परन्तु देखे जाने पर तुरन्त पकड़कर बन्द कर दिये जाते तथा घर के ही अन्दर बन्द रहने से कभी–कभी बीमार पड़ जाते, बहुत रोते लेकिन घर से बाहर नहीं जाने दिया जाता था। दादी माँ 'वैष्णव सम्प्रदाय' में आस्था रखती थी, इसलिए घर में पूजा–पाठ, धूप, घी, ठाकुर जी के भोग की महक आती रहती थी। इस तरह के आर्थिक अभाव एवं अप्रिय परिवेश में राकेश जी का बचपन व्यतीत हुआ।

पिता जी लगभग बीमार ही रहते थे, जिसके कारण मकान का किराया तक नहीं दे पाते थे। राकेश जी जब किशोरावस्था में थे, तभी सन् 1941 ई0 को स्वर्गवास हो जाता है। पिता की मृत्यु (शव के पास) पर दो तरह के शब्द सुनाई दे रहे थे, एक था, घर के सगी सम्बन्धियों के रोने का, दूसरा क्रूर मकान मालिक का, जो गला फाड़–फाड़ कर यह कह रहा था कि जब तक किराया नहीं दिया जाएगा, तब तक वह शव के पास किसी को जाने नहीं देगा। अन्ततः माँ के सोने की चूडियाँ देकर किराया चुकाया जाता है। यह वह समय था जहाँ पर राकेश के परिवार वालों को एक मजबूत सहारे की जरूरत थी, परन्तु कोई सहायक न होकर एक–एक करके निकल जाते हैं। तभी से लेखक को ऐसे समाज से वितृष्णा हो जाती है। पिता जी की शोक सभा में अनेक उच्च भाषण दिए गए पर फिर

कभी उन लोगों को नहीं देखा, इसी कारण राकेश को ऐसे लोगों से सक्त नफरत हो गई, जो दोगले चरित्र एवं स्वभाव के होते हैं।

एक साक्षात्कार में राकेश जी अपने पिता के सन्दर्भ में कहते हैं कि–''मेरे पिता जी जो कि घर के माहौल से काफी त्रस्त रहते, अपने मित्रों के साथ अपनी बैठक में काफी रिलैक्स्ड महसूस करते थे। हर शाम को मुवक्किल चले जाते थे तो उनके दोस्तों का एक के बाद एक का आना शुरू हो जाता था। और कोई दो–तीन घण्टे तक वहाँ एक सौहार्द का माहौल लग जाता था। साहित्य पर चर्चाएँ होती और संगीत का भी रस लिया जाता था। हँसने हँसाने का भी दौर चलता और लगता कि पिता जी तभी जीते थे। सिर्फ मेरे पिता जी ही नहीं, बल्कि मैं भी अपने से बड़े लोगों की उन शामों की प्रतीक्षा करता।''[4] पिता की मृत्यु को स्मरण कर राकेश जी व्यथित अवश्य होते थे, परन्तु कुछ सुख के कण सान्त्वना भी देते।

पिता जी की भाँति राकेश जी की माँ बहुत ही विनम्र, स्नेहमयी, सहज एवं निःस्वार्थ भाव की थी। कभी अपने बच्चों को मारा पीटा नहीं, बल्कि हमेशा तनाव मुक्त एवं खुश रहने के लिए प्रोत्साहन देती रही। पढ़ाई लिखाई का बहुत ख्याल रखती थीं। पिता जी के न रहने पर वह भी असहाय हो गई, फिर भी अपने बच्चों एवं परिवार को कभी हतोत्साहित नहीं होने दिया, बल्कि बहुत ही धैर्य के साथ प्रत्येक कार्यो को पूर्ण किया। माँ और राकेश के सम्बन्ध बहुत ही अटूट थे। जिसके सन्दर्भ में अनीता राकेश जी लिखती हैं–''अम्मा के प्रति उनका अगाध प्रेम था और बेटे के प्रति माँ की ऐसी अखण्डता (अटूट विश्वास) कम से कम मैंने तो अभी तक कहीं देखी सुनी नहीं। बेटा अगर सौ खून करके भी आ जाए, तो माँ कहेगी, कि अव्वल तो उसने ऐसा किया नहीं होगा और यदि किया भी है,

तो मेरे बेटे ने बिल्कुल ठीक किया। इसलिए पिता जी के चले जाने और माँ के इस अखण्ड विश्वास ने राकेश जी के जीवन की दिशा ही बदल दी। उन्होंने नौकरी बदलीं, मकान बदलें, शहर बदलें, बीवियाँ बदलीं माँ ने उनसे कभी कोई सवाल नहीं किया।''[5]

डॉ. 'शोभा चतुर्वेदी' जी भी राकेश की माँ के सन्दर्भ में लिखती हैं–''मौन उनकी अदम्य शक्ति थी और अंतःसलिला के तमाम पृच्छन्न स्नेह उनकी निधि। अम्बिका की मूल अवधारणा यही है। उसके मरते ही अम्बिका टूट जाती है। माँ के न रहने पर राकेश जी कहीं दूर बहुत गहरे आहत हुए थे। माँ के अनात्मरत और निःस्वार्थ जीवन की जो बात उन्होंने कही उसमें स्थिर डेडिकेशन तथा योगस्थ प्रकृति की तरह ऐसी विशेषताएं हैं, जो अम्बिका में साफ झलकती है। कई बार ऐसा लगता है कि नारी के इस मातृरूप के प्रति उनका स्थायीकरण हो गया था। जिससे अन्य रूपों से वे समझौता नहीं कर सकें।''[6]

राकेश जी की एक बड़ी बहन कमला देवी थीं। पिता जी ने बेटा–बेटी में कभी भेद नहीं किया और हमेशा बेटी कमला को उत्साहित एवं संस्कृत साहित्य में अध्ययन के लिए प्रोत्साहन देते रहें। कमला कई बार 'महिला हिन्दी साहित्य सम्मेलन' सन् 1941–1943 ई0 की अध्यक्ष रहीं। जब महिलाओं से सम्बन्धित कोई सम्माननीय सभा होती, तो कमला उसमें अपने गतिशील विचार प्रस्तुत करती। भाई मोहन राकेश के आर्थिक सहायता हेतु अमृतसर और दिल्ली में अध्यापन कार्य किया। बहन इतनी योग्य एवं सुशील थी कि राकेश जी को कभी बोझ नहीं लगी, बल्कि हमेशा खुश रहे और दोनों ने मिलकर कार्य किया। छोटे भाई वीरेन्द्र को राकेश जी एवं घर के बाकी अन्य सदस्य बहुत प्रेम करते थे। आर्थिक अभाव में वीरेन्द्र की पढ़ाई बन्द नहीं की गई, बल्कि बहुत लाड़ प्यार से

पाला–पोषा गया। वीरेन्द्र को घर के सदस्य प्यार से वीरेन उपनाम से पुकारते थे। वीरेन्द्र सबसे पहले मद्रास में और तत्पश्चात् 'सिलोन ब्रॉडकार्स्टिंग कॉपरेशन' में काफी समय तक नौकरी की। राकेश जी यह चाहते थे कि वीरेन उन्हीं के पास रहे, परन्तु वैवाहिक जीवन, गृह–कलह एवं आर्थिक अभाव के कारण यह सम्भव नहीं हो पाया। इन्हीं समस्याओं के साथ समय व्यतीत होता रहा, परन्तु यह संघर्ष जैसे राकेश जी का साथ ही नहीं छोड़ना चाहता था। कुछ समय पश्चात् राकेश जी की माँ का भी देहान्त हो जाता है। माँ की मृत्यु उनके लिए ऐसा दुःख था जिससे वो कभी बाहर नहीं निकल पाए, जब भी माँ की याद आती कई दिनों तक परेशान रहते। मित्रों के बहुत समझानें पर भी उनका शोक कम नहीं होता था। दोस्तों से राकेश जी अक्सर कहा करते थे कि यदि अम्मा एक बार उसी रात मर जाती, तो मैं बर्दाश्त कर लेता पर उनका उसी तरह प्रत्येक दिन मरना मैं सहन नहीं कर पाऊंगा। लेखक अपनी माँ को स्नेहवश 'अम्मा' कहते थे। राकेश जी का संयुक्त परिवार था, घर में चाचा–चाची, बुआ आदि भी रहती थीं। परिवार के सदस्य प्रेम अवश्य करते थे, परन्तु अभाव के समय सभी ने धीरे–धीरे अपना हाथ हटा लिया था।

मोहन राकेश का शैक्षिक वातावरण बहुत ही सन्तोषजनक नहीं था। पिता की अनुपस्थिति में ट्यूशन से अध्ययन एवं स्वयं का खर्च निकालना पड़ता था, तो दूसरी तरफ परिवार की आर्थिक समस्याओं का भी सामना करना पड़ता। भाई वीरेन्द्र के अध्ययन का खर्च स्वयं को ही वहन करना पड़ता। इनकी शिक्षा लाहौर के 'ऑरियण्टल कॉलेज' से हुई, इसी कॉलेज में अंग्रेजी विषय से बी.ए. और शास्त्री की उपाधि ग्रहण की और संस्कृत विषय से एम.ए. उत्तीर्ण किया। इसी समय भारत विभाजन का संकट समक्ष आ जाता है, जिससे पूरे परिवार के साथ जालन्धर में बसना पड़ता

है। जालन्धर में ही हिन्दी विषय से एम.ए. किया। इस तरह राकेश जी अपनी शिक्षा पूर्ण करते हैं।

राकेश जी को किसी लीक पर चलना बिल्कुल पसन्द नहीं था, परन्तु नौकरी किसी बंधी बंधाई जिन्दगी से कम नहीं होती है। कम उम्र में ही पारिवारिक जिम्मेदारी उठानी पड़ती है, जिसके लिए नौकरी तलाशना प्रारम्भ कर देते हैं। इस समय राकेश जी कहानी लिखना प्रारम्भ कर दिये थे, कुछ उसी अनुसार नौकरी भी चाहते थे। सर्वप्रथम एक कहानीकार के रूप में फिल्म कम्पनी में नौकरी करते है, परन्तु लेखन में रूचि होनें के कारण ज्यादा ध्यान नहीं दे पाते थे, जिसके कारण इन्हें ये नौकरी छोड़नी पड़ी। एक दूसरा कारण यह भी था कि अपने व्यक्तित्व की अपेक्षा इन्हें ये नौकरी छोटी लगती थी। उसी दौरान राकेश जी को अमृतसर लाहौर में 'डी0 एम0 पन्चाली' कम्पनी में फिर से कहानीकार के रूप में नियुक्ति मिली, परन्तु वहाँ भी पूर्व की भाँति मन नहीं लगा और इस्तीफा दे दिया। आर्थिक रूप से मजबूत न होनें के कारण राकेश फिर से उन्हीं पारिवारिक समस्याओं में उलझकर नौकरी की तलाश में निकलतें हैं लेकिन सुविधा अनुसार न मिलने से तंग आकर लाहौर छोड़कर मुम्बई आ जाते हैं। यहाँ पर राकेश जी की मुलाकात एक फिल्म कम्पनी के निर्देशक विजय भट्ट से होती है। भट्ट जी इन्हें संवादों को संवार कर लिखने की नौकरी प्रदान करते हैं। राकेश जी थोड़े दिन तो अच्छे से यह नौकरी करते हैं, परन्तु कुछ समय पश्चात् मन नहीं लगता है–जिसका कारण यह था कि उनकी योग्यता के अनुरूप यह नौकरी नहीं थी और एक बार फिर से नौकरी छोड़ देते हैं।

नौकरी छोड़ने के कुछ ही दिनों बाद एक बार फिर से बेकारी का सामना करना पड़ता है। समस्या तो तब और बढ़ जाती है, जब सन् 1947

ई0 में भारत विभाजन होता है। इस सन्दर्भ में राकेश जी स्वयं कहते हैं–"इस समय मेरे परिवार को मेरी जरूरत थी, इसलिए मैं आर्थिक दबाव से ग्रस्त था। मैंने सब जगह नौकरी की अर्जियाँ भेजी। जब मैं सब ओर से निराश होकर, बम्बई छोड़ने की तैयारी कर रहा था कि तभी मुझे पचहत्तर रूपये महीनें की 'सिडेनहम कॉलेज ऑफ कॉमर्स' में पार्ट टाइम प्राध्यापक की नौकरी मिली। लेकिन यह नौकरी भी इसलिए की, क्योंकि मुझे लगातार बारह घण्टे भूखे रहने के कारण ये पता चल चुका था कि भूख क्या होती है?"[7] कुछ ही दिनों में यह नौकरी भी छोड़ देते हैं।

अनेक समस्याओं का समाना करते हुए एक बार फिर से नौकरी की तलाश में बाहर निकलते हैं–तत्पश्चात् राकेश जी की चाहत पूरी होती है और 'मुम्बई' के ही 'एल्फिस्टन कॉलेज' में अध्यापक की नौकरी मिलती है। दो वर्ष तक हिन्दी विषय का अध्यापन कार्य करते हैं, जब सरकारी होने के लिए राकेश जी का मेडिकल हुआ तो रिपोर्ट में आँखे बहुत कमजोर निकली और त्यागपत्र देना पड़ा। अभी तक नौकरी राकेश जी छोड़ते आ रहे थें, परन्तु आश्चर्य तब होता है जब जालन्धर के 'डी0ए0वी0 कॉलेज' से इन्हें अपने अधिकार के लिए लड़ना पड़ता है, क्योंकि स्टाफ वेद, धर्म आदि ग्रन्थ भी पढ़ानें को कह रहा था, जो कि राकेश जी को मन्जूर नहीं था। उसी दौरान 'टीचर्स यूनियन' का चुनाव आ जाता है, जिसमें राकेश जी प्रिन्सिपल के उम्मीदवार का साथ न देकर न्याय का साथ दे रहे थे। जिसके कारण राकेश जी को बिना स्वीकृति के ही हटा दिया गया। ये घटना राकेश जी को व्यथित अवश्य करती है, परन्तु राकेश जी कुछ कर नहीं सकते थे। इसके बाद नौकरी न करने का मन बनाया और स्वतन्त्र कार्य शुरू किया। 'अनुवाद ब्यूरो' खोला और डेढ़ दो साल इन्तजार किया, परन्तु यह कार्य भी सफल नहीं हुआ, जो पैसे थे वो भी खत्म हो गये। अब

मुम्बई छोड़ने का फैसला कर लिया और दिल्ली आ गए यहाँ पर 'सारिका' पत्रिका के लिए कार्य करना प्रारम्भ किया। जिसके सन्दर्भ में राकेश जी लिखते हैं–"मैं सारिका के लिए लगातार लिखता था और सोचता था कि मुझे इसी मैंगजीन में नौकरी मिल जाए तो अच्छा हो। सम्पादक ने मुझे काम दिलाने का वादा भी किया। उन्होंने पहले तो मुझे वार्षिक अंक का सम्पादन दिया, परन्तु उनसे अपने मधुर सम्बन्धों के बावजूद पत्राचार या दिल्ली में उनसे अनौपचारिक मुलाकातों के बाद मुझे लगने लगा कि ऐसे जोड़–तोड़ करने वाले व्यक्ति के साथ मैं काम नहीं कर सकता।"[8]

इस नौकरी को छोड़ने के पश्चात् राकेश को किसी मित्र नें बताया कि शिमला में एक नौकरी है। पता मिलते ही राकेश जी इण्टरव्यू देने चले जाते है और 'बिशप कॉटन्स कॉलेज' 'शिमला' में लगभग दो साल कार्य किया। इस बीच राकेश द्वन्द्व में रहते थे और दो बार इस्तीफा भी दिया, परन्तु वहाँ के हेड मास्टर द्वारा मना लेने के कारण इतने दिन टिके रहे। इस बीच राकेश जी लेखन कार्य को गम्भीरता से लेने लगे थे और अन्ततः इस्तीफा देकर यह तय किया कि कम से कम में गुजारा करने की कोशिश करेगें, परन्तु अपने लेखन को पूरा समय देंगे। लेखक के नौकरी छोड़ने का एक ही कारण था स्वतन्त्र प्रवृत्ति का होना और अपने ही अनुरूप चलना, जो किसी भी नौकरी देने वाले को मान्य नहीं था। इसलिए राकेश जी इस्तीफा हमेशा अपनी जेब में ही लेकर चलते थे, जब कभी उन्हें आवश्यकता पड़ती तुरन्त निकालकर दे देतें। उन्हें बचपन से लेकर आज तक चिढ़ थी कि लोग मुखौटा लगाकर क्यों कार्य करते हैं। समाज में कई तरह के लोगों से मिलते हैं, परन्तु कभी घुल–मिल नहीं पाए यही कारण था कि दिल्ली विश्वविद्यालय और सारिका जैसे संस्थानों पर भी नहीं ठहर

पायें। नौकरियों के साथ नगर भी बदलते रहें, परन्तु कभी किसी से समझौता नहीं कर पाए।

राकेश जी स्वतन्त्र प्रकृति के तो थे ही अपनी इसी प्रवृत्ति के कारण इन्हें जीवन के कई उतार–चढ़ाव सहने पड़े, लेकिन व्यक्तित्व एवं अस्तित्व ऐसा था कि कभी किसी के समक्ष झुक नहीं पाए। परिस्थिति चाहे जैसी रही हो, परन्तु जीवन की गति के साथ अपना स्वभाव नहीं बदला। कभी किसी को दुःख नहीं देना चाहा, किन्तु अपनी आदत से मजबूर थे। जीवन की विसंगतियों ने अनेक समस्याओं को जन्म दिया लेकिन इसकी परवाह किए बिना कि ये मेरे हित का है या नहीं अपनी इच्छानुसार और अपने मन का ही कार्य किया।

किशोरावस्था में ही इन्हें एक दिव्या नाम की लड़की से प्रेम हो गया। अभी अध्ययन कार्य चल ही रहा था कि दिनोंदिन दिव्या के प्रति आकर्षण बढ़ता ही गया। दिव्या भी राकेश को प्रेम करती थी, जब राकेश को देखने का मन होता अमृतसर आ जाया करती। धीरे–धीरे राकेश को दिव्या पर भरोसा हो गया। एक तरफ पिता की मृत्यु का शोक, दूसरी तरफ दिव्या का भावनात्मक प्रेम था। अक्सर राकेश के दुःख भरे घाव दिव्या की सहानुभूति से भर जाते और अपनी सारी बातें, उलझनें और अकेलेपन का बयान दिव्या के समक्ष करते थे। दिव्या भी चुपचाप सुना करती और राकेश की भावनाओं की कद्र करती थी। लेकिन शायद नियति को यह मन्जूर ही नहीं था कि राकेश ऐसे विश्वासी पात्र के साथ रह सकतें। दिव्या की अचानक मौत उन्हें उसी मोड़ पर फिर से लाकर खड़ा कर देती है। अब राकेश बिल्कुल अकेले रहने लगें, पढ़ाई में भी मन नहीं लगता, अपने–आप को ही कोशा करते। दिव्या ही एक ऐसी थी जिससे राकेश अपनी पूरी व्यथा कहते थे। कभी–कभी तो इतना परेशान हो जाते

थे कि उन्हें लगता जीवन में कुछ सत्य है ही नहीं। पर माँ और दिव्या का प्रेम हमेशा उन्हें सान्त्वना देता रहा। शायद यही कारण है कि वे अपनी माँ और प्रेमिका की खोज रचनाओं में करते रहें। परन्तु समय भी प्रकृति की भाँति गतिशील एवं परिवर्तनशील होता है, स्थितियाँ बदलती है राकेश को भी दाम्पत्य सूत्र में बंधना पड़ता है।

साहित्यिक लेखन के दौरान काफी लोगों से पत्र व्यवहार होता है। उसी बीच 'आगरा' शहर की अध्यापिका सुशीला से मोहन राकेश का पत्र व्यवहार हुआ और राकेश जी सुशीला के कार्य एवं व्यक्तित्व से आकर्षित हो जाते हैं। और मन ही मन सोचनें लगते हैं कि यदि सुशीला से विवाह हो जाए, तो परिवार का आर्थिक भार वहन कर सकेंगी और मैं स्वतन्त्र रूप से लेखन कार्य कर सकूंगा। यही विचार रखते हुए राकेश जी विवाह प्रस्ताव भेजते हैं और विवाह हो भी जाता है। वैवाहिक जीवन के प्रारम्भिक दिन शिमला में ही व्यतीत किए। इन दिनों राकेश जी का जीवन सुखमय व्यतीत हो रहा था, तभी राकेश जी को यह अनुभव होने लगता है कि उनका सपना पूरा नहीं हुआ और कुछ ही दिनों में इस रिश्तें में एक दरार सी दिखनें लगती है। अपने एक साक्षात्कार में राकेश जी कहते हैं–"मुझे लगा कि हम दोनों का स्वभाव एक दूसरे से अलग था। कहीं भी, कैसा भी कोई मेल नहीं था। यह एक समझौता था जिसे दोनों निभाऐ जा रहे थे। हम दोनों अलग–अलग शहर में काम करते रहें। शिमला के बाद मैं जालंधर चला गया और वो आगरा में काम करती रहीं। सन् 1952 ई0 के मध्य से लेकर 57 तक कोई पाँच साल हम एक–दूसरे से अलग रहते रहें, काम करते रहें और यदा–कदा, यहाँ–वहाँ मिलते रहें। अपने इस अजीबो गरीब रहन–सहन को हम आधुनिकता का नाम देते रहें कि हम दोनों अलग–अलग पहचान लिए हुए और यह कि प्रत्येक अपने अलग–अलग

व्यक्तित्व को निखार रहे हैं लेकिन इसके अन्दर का कारण था आपसी अजनबीपन और अहम् भाव। ऐसा कोई विषय नहीं था जिस पर हम झगड़तें नहीं थे।"[9] अब ऐसा हो गया था कि किसी अकेलेपन ने दोनों को ग्रस लिया हो। अब पूरी तरह से सुशीला और राकेश का मत–भेद हो गया यहाँ तक कि मिलना–जुलना भी बंद कर दिया।

सुशीला आत्मनिर्भर थीं, राकेश की अपेक्षा अधिक वेतन भी पाती थीं, सुशीला को इस बात का गर्व था कि वो अपनी सुरक्षा स्वयं कर सकती हैं। इनके कार्य की भाँति हाव–भाव भी बहुत तेज थे, बाते भी कभी–कभी मर्दो वाली करती थीं। यही स्वभाव राकेश को पसन्द नहीं आता था। राकेश जी जालन्धर 'डी0ए0वी0 कॉलेज' में विभागाध्यक्ष अवश्य थे, परन्तु सुशीला से बराबरी नहीं कर पा रहे थे। विवाह बन्धन के कुछ ही दिनों बाद से राकेश जी कभी सहज, सरल और शान्त महसूस नहीं कर पाए, जिससे हमेशा तनाव में रहनें लगें और इस फैसले के लिए मजबूर हो गए कि सुशीला को मुझसे दूर रहना ही उचित हो सकता है और विवाह विच्छेद के लिए तैयार हो जाते हैं। इधर राकेश जी विच्छेद की तैयारी कर ही रहे थे कि पता चलता है सुशीला माँ बननें वाली हैं। ऐसी अवस्था में सुशीला विवाह विच्छेद के लिए तैयार नहीं होती हैं लेकिन राकेश जी बहुत समझाते हैं कि इस तरह हम दोनों एक साथ नहीं रह सकतें। अन्ततः सुशीला दबे मन से तैयार हो जाती हैं और कुछ ही दिनों में सुशीला पुत्र नवनीत को जन्म देती हैं।

कुछ समय पश्चात् राकेश के मन में एक आशा की किरण जन्म लेती है और अपने अकेलेपन से बाहर निकलना चाहते हैं। इनके मित्रों ने भी सलाह दी कि राकेश आपको विवाह कर लेना चाहिए, अब जो हुआ सो हुआ। बहुत समझानें पर राकेश जी मन में एक उम्मीद लिए कि अब की

बार शान्ति और मन में व्याप्त असहजता समाप्त हो जाएगी और विवाह के लिए तैयार हो जातें हैं। इसी आशा के साथ मित्र की बहन पुष्पा जो कि पंजाब राज्य के छोटे से कस्बे में निम्न मध्यवर्गीय परिवार की रहने वाली थीं, से विवाह हो जाता है। परन्तु विवाहोपरान्त राकेश जी के साथ ऐसा विश्वास घात हुआ जिस पर राकेश को स्वंय विश्वास नहीं हो पा रहा था। मित्रों का ऐसा धोखा देना भी असहनीय हो गया, क्योंकि पुष्पा मानसिक रूप से असन्तुलित थीं। जब वे हँसने लगती तो हँसा ही किया करती, रोती तो रोया ही करती, परेशान होकर राकेश यदि डाँट देतें तो माँ दुर्गा का रूप धारण कर लेती। ऐसी अवस्था में राकेश के पास न जवाब था न सवाल सिर्फ एक ही रास्ता दिखा, वह था विवाह विच्छेद।

अपनी इस दशा का वर्णन करते हुए राकेश जी लिखतें हैं– "मुझे एक घर चाहिए था, एक पत्नी चाहिए थी, एक महिला साथी चाहिए थी। और शायद इसीलिए बिना सोचे समझें मैं दूसरी शादी में फिर से कूदा। लेकिन हम एक दूसरे के लिए बिल्कुल नहीं थे। मैं पागल हो जाता अगर उसके साथ रह जाता। वो एक दुःस्वप्न था जिसे मैं छोड़ सका।"[10]

इस विवाह विच्छेद के पश्चात् राकेश के ऊपर घर तोड़नें नौकरियाँ एवं पत्नियाँ बदलनें के काफी आरोप लगाए गए, जिसकी सफाई में राकेश जी कहते हैं "हाँ, मैं घर तोड़नें वाला, नौकरियाँ और पत्नियाँ बदलनें वाला इन्सान बताया जाता हूँ, क्योंकि मैं लोगों की जुबान नहीं बन्द कर सकता। लेकिन यह कहना चाहूँगा कि मैं वही करता हूँ, जिसके लिए मेरा मन गवाही देता है। मैं मानता हूँ कि मैनें होशो–हवाश में घर तोड़ें हैं, जो कि हमारे हिन्दु मध्यवर्गीय परिवारों में अक्षम्य है लेकिन मैं उन लोगों में से नही हूँ जो सतही और झूठें रिश्तों को कायम रखतें हैं। मैं एक ही समय में लम्पट होकर भी आदर्श होनें का नाटक नहीं कर सकता। "[11]

विवाह बन्धन में इतने उतार–चढ़ाव सहनें के बावजूद तीसरा प्रयास अपने आप में सराहनीय है। विवाह में दो बार असफलता अवश्य मिली, परन्तु आन्तरिक शुकून प्राप्त करने की अभी भी लालसा जारी रही। इसी मानसिक उथल–पुथल के चलते एक पार्टी में राकेश जी 'अनीता औलक' के सम्पर्क में आते हैं। पहली ही दृष्टि में राकेश जी उसी पुनरावृत्ति में आ जाते हैं कि शायद अनीता मेरे घर को सम्भाल सकें। यह अन्तर्द्वन्द्व चलता ही रहता है। शायद अबकी बार राकेश के लिए दैवीय चमत्कार था कि अनीता को भी पहली दृष्टि में प्रेम हो जाता है और राकेश के साथ बिना विवाह के रहनें को तैयार हो जाती हैं। इस बात की पुष्टि राकेश जी रजिन्दर पाल से बातचीत करते हुए कहते हैं– "तुम मेरे मौजूदा रिश्ते को कोई भी नाम दे सकते हो। तुम्हें पता ही है कि मैंने अनीता से शादी नहीं की। मैं इसके लिए उसकी हिम्मत की दाद देता हूँ। उसके मेरे प्रति बेपनाह प्यार की मैं कद्र करता हूँ। मैं जो कुछ भी करूँ लेकिन उसे छोड़ नहीं सकता। जब वह मेरे साथ हो ली थी तभी मैंने उसे यह कह दिया था कि मैं जीवन–भर उसके प्रति प्रतिबद्ध रहूँगा।"[12]

राकेश जी अनीता को प्रेम अवश्य करते थे, परन्तु उसका भी स्थान निर्धारित कर रखा था। विवाह के पहले ही दिन राकेश ने अनीता से कह दिया था कि – "पहले स्थान पर मेरा लेखन है, दूसरे पर दोस्त और तीसरे नम्बर पर तुम आती हो।"[13] राकेश के जीवन की सबसे बड़ी तलाश शायद घर ही था, यहाँ पर घर से आशय मकान न होकर आत्मीयता, अपनेपन से था जो कि स्त्री पुरुष के प्रेम सम्बन्धों या निजीपन से ही सम्भव है और इस तलाश की पूर्ति अनीता के द्वारा होती है। विवाह की पहली ही रात भावुक होकर अनीता से कहते हैं–"मुझे घर चाहिए अन्ना घर, मुझे जिन्दगी में सब कुछ मिला ..... सिर्फ एक घर नहीं मिला। मैं

कहाँ–कहाँ इसके लिए नहीं भटका, क्या–क्या इसके लिए नहीं किया ..... लेकिन पता नहीं क्यों 'घर' नाम की चीज मुझसे हमेशा रूसवा रही दो बार इसे पानें का विश्वास अपने मन में भरा और दोनों ही बार मुझे खुद उससे भाग जाना पड़ा। मैं नहीं जानता क्या मुझे ही घर से एलर्जी है या कि घर को ही मुझसे एलर्जी है ..... क्या तुम मेरे लिए एक घर बना सकोगी जो मेरे सिर्फ मेरे अनुकूल ही हो ..... । मैं एक बहुत ही दुःखी आदमी हूँ अन्ना ..... एक बहुत ही दुःखी आदमी हूँ मैं चाहता हूँ कि मुझे अब तुम सम्भाल लो ..... मुझे और मेरे घर को।''[14]

अनीता तभी से राकेश को समझनें की कोशिश करने लगती हैं। विवाह उपरान्त अनीता के भी समक्ष अनेक वैसी ही समस्याएँ आयी जो सुशीला और पुष्पा के सामनें आयी थीं, परन्तु अनीता ने अपनी खुशियाँ न देखकर प्रत्येक वह वस्तु खोजनें लगीं, जिसमें राकेश खुश रहते। राकेश जी का अनीता के ही कमरे में मित्रमण्डली लगाना, बातें करना, ठहाके लगाना आदि चलता रहता। यह तो प्रतिदिन का नियम बन गया था अनीता इन्तजार करती रहती, परन्तु राकेश को कुछ न कहकर माँ जी के कमरे में चली जाती। इस तरह की विभिन्न परेशानियाँ अनीता को झेलनीं पड़ती थी। अपनी व्यस्तता के कारण राकेश जी अनीता को समय नहीं दे पाते थे। लेकिन अनीता का विश्वास विचलित नहीं हुआ वे अपने में ही अडिग रहती, कभी कोई शिकायत नहीं करती थीं। अनीता का यही समर्पण भाव राकेश को बहुत पसन्द आया और यह अहसास करनें लगें कि वह शान्ति या वह शुकून जिसके लिए मैं दर–दर भटकता रहा मुझे प्राप्त हो चुकी है। यह दूसरी बात थी कि विवाह उपरान्त ही राकेश ने अनीता के स्थान का जिक्र कर दिया था, परन्तु अनीता के सौम्य स्वभाव ने पूरा पासा ही पलट दिया। अनीता के दो बच्चें पुत्री पुरवा, पुत्र शैली के

जन्म से अनीता की जिन्दगी में एक नई रोशनी आती है। वही स्थान जो अनीता को तीसरे पायदान पर रखता था, अब पहले स्थान पर लाकर खड़ा कर देता है। राकेश जी अब ज्यादातर समय अपनें बच्चों और पत्नी के बीच ही गुजारतें हैं वे स्वयं यह स्वीकार कर लेतें हैं कि मैं अनीता के बिना नहीं रह सकता।

मोहन राकेश जिस तरह अपनी माँ को प्रेम करते थे उनसे किसी प्रकार का समझौता स्वीकार नहीं था, ठीक वैसे ही उनका लेखन भी था। माँ के न रहनें पर उनका लेखन ही शीर्ष स्थान पर रहा। इस कार्य के लिए न जानें कितनी नौकरियाँ छोड़ी, पत्नियाँ भी छोड़ी, परन्तु लेखन कार्य नहीं छोड़ा। स्वतन्त्रता की चाहत हमेशा दिल में बनी रही। व्यक्तिगत जीवन को लेकर कोई भी व्यवधान पसन्द नहीं था। स्वतन्त्रता उन्हें बहुत प्रिय थी। राकेश जी परिस्थितियों के अनुकूल कभी नहीं चले, बल्कि परिस्थितियाँ इनके अनुरूप चलती थीं। राकेश जी स्वतन्त्र अस्तित्व के धनी एवं जिन्दादिल इन्सान थे, खुश रहना उन्हें बेहद पसन्द था कठिन से कठिन परिस्थितियों में भी चेहरे से मुस्कान कभी नहीं गई। राकेश जी खाते–पीते एक लम्बी एवं स्वस्थ जिन्दगी जीना चाहते थे। कई पदों पर आसीन होनें के बावजूद किसी का बुरा नहीं चाहा। ईमानदारी इनके व्यक्तित्व का प्रमुख हिस्सा थी। यही कारण था कि ये सदैव गौरव और आत्मसम्मान के साथ सिर उठाकर जी सकें। इन्हें किसी के बनें बनाएँ पथ पर चलना भी गँवारा नहीं था। अपनी दोस्ती भी अपनी ही शर्तो पर करते थे। राकेश के सम्बन्धियों और सम्पर्क में ऐसा कोई नहीं था, जिसनें उन्हें न समझा हो। मित्र मण्डली में हमेशा इसलिए प्रसिद्ध रहे कि राकेश बहुत स्वाभिमानी एवं घमण्डी हैं। इन्हें पक्षपात से सक्त नफरत थी। राकेश जी यदि दूसरों की कमियाँ सहन नहीं करते थे तो अपनी भी नहीं। उनकी

दृष्टि समानता की कायल थी। व्यस्तता या लेखन के दौरान कोई टेलीफोन आ भी जाता तो अनीता की हिम्मत नहीं पड़ती कि जाकर बता दें, वो अक्सर यही कह देती राकेश जी घर पर नहीं है या बहुत व्यस्त हैं। जब समय मिलते ही अनीता राकेश जी से बताती, तो उन्हें बहुत दुःख होता था यह बात शाम तक माफी के साथ विनम्र भाव से बता दी जाती थी।

लेखक को घूमना–फिरना, पहाड़ों का प्राकृतिक दृश्य (विशेष रूप से शिमला और कन्याकुमारी) रेस्टॉरेण्ट में देर रात तक कॉफी की चुस्किया लेना, दोस्तों के साथ रहना, बातचीत करना, जोर–जोर से ठहाका लगाना बेहद पसन्द था। राकेश जी को किसी भी प्रकार का बन्धन या परितन्त्रता पसन्द नहीं थी, पुरानें मूल्यों परम्पराओं एवं रूढ़ियों में जीवन व्यतीत करना रूचिकर नहीं था। इस सन्दर्भ में अनीता राकेश जी लिखती हैं–"वह परम्परा निभानें के बजाय परम्परा बनानें में अधिक विश्वास रखते थे किसी के यहाँ शादी–ब्याह, जन्मदिन, मुण्डन वगैरह पर अव्वल तो वह जाते ही नहीं थे। यूँ अन्दर से किसी से किसी के लिए कुछ देने की इच्छा हो, मन करे तो किसी के लिए कुछ भी ले आए मगर रस्म निभानें के लिए कभी नहीं। बहन राखी बाँधनें आती थी, मिठाई का डिब्बा साथ लेकर। मुझे ही पता है वह कैसे राखी बँधवातें थे। और बदले में बड़ी बहन को सौ–पचास रूपये देना तो वह जैसे सोच ही नहीं सकते थे।''[15]

नई–नई चीजों की खोज उनके जीवन का एक हिस्सा बन गई उनकी यही नवीन जिज्ञासु प्रवृत्ति का प्रभाव नाट्य साहित्य में देखनें को मिलता है। अपने रूचि के कारण ही तो कभी किसी वस्तु से समझौता नहीं कर पाए, जो स्थान उन्हें नहीं भाँता था वहाँ वे न रह पाए और न ही कभी जाते थे। अपनी इसी प्रवृत्ति के कारण कई बार नुकसान भी उठाए,

परन्तु अरूचिकर कार्य नहीं किया। कई बार तो लोगों से दुश्मनी भी हो गयी जिसके कारण काफी अपमान भी सहना पड़ा। कोई अभिमानी कहता तो कोई सनकी।

प्राकृतिक स्थलों में राकेश जी को शिमला की पहाड़ियों के बीच लेखन कार्य करना अच्छा लगता था। जब भी मानसिक रूप से अव्यवस्थित होते थे तो शिमला चले जाते। कन्याकुमारी में एक घर का सपना हमेशा देखते रहें, परन्तु आर्थिक अभाव के कारण पूर्ण नहीं हो सका। काले घिरे बादल और बरसात बहुत प्रिय थी 'आषाढ़ का एक दिन' नाटक में इसका प्रभाव देखा जा सकता है।

वैसे तो राकेश जी भविष्य को लेकर कभी परेशान नहीं रहे, परन्तु अपनी आँखों के कारण कभी–कभी चिन्तित हो जाया करते थे। अक्सर अपनी पत्नी अनीता से कहा करते थे कि–''मेरी नजर कमजोर हो गई तो मैं लिखूँगा–पढूँगा कैसे? उस वक्त लिखनें में तुम मेरी मदद करोगी न? 'हाँ' क्यों नहीं? आप जो बोलेगें, मैं लिख दिया करूँगी। तब वह एक जोरदार ठहाका लगाते और कहते 'नहीं' मुझे तुम पर भरोसा नहीं है। मैं क्या बोलूंगा और पता नहीं तुम क्या लिख दोगी?''[16]

राकेश जी का खान–पान भी बिल्कुल अलग था। माँ के हाथ का भोजन बहुत पसन्द करते थे, एक साक्षात्कार में अनीता जी कहती हैं "खाने–पीने की आदते माँ ने बचपन से ही बिगाड़ रखी थीं। चूँकि ये अमृतसरिए थे, इसलिए पापड़, बाड़ियाँ, छोले और खूब चटपटे मसालेदार खानें के शौकीन थे और ये शौक दिल्ली तक ज्यों का त्यों चला आया।"[17]

राकेश जी को गाना सुननें का बहुत ही शौक था लता जी के बहुत बड़े फैन थे। इत्तफाक से अनीता का गला भी बहुत अच्छा था उनकी

आवाज बहुत सुरीली थी जब कभी राकेश परेशान होते अक्सर अनीता को बुलाकर कुछ गुनगुनानें को कहते। अनीता गाया करती राकेश जी बहुत ध्यान से सुनतें, 'लहरों के राजहंस' और 'आषाढ़ का एक दिन' की कुछ पंक्तियाँ बेहद पसन्द थी। उन्हें भी गुनगुनाया करते और अनीता से भी गुनगुनानें को कहते। राकेश जी का पहनावा और उनकी पसन्द बिल्कुल अलग था। अनीता जी इसी सन्दर्भ में कहती हैं–"उन्हें सबकुछ ए–वन ही चाहिए था। एकदम टिपटाप रहनें की आदत थी। हिन्दी के लेखक तो वह कहीं से नहीं लगते थे। पत्नी बच्चों सभी को अपने पसन्द के कपड़े लाते, खुद पार्कर पेन से लिखते थे, शराब भी बढ़ियाँ चाहिए थी..... ।''[18]

कभी–कभी राकेश जी का स्वभाव ऐसा होता था कि स्वंय ये भी समझ नहीं पाते थे। बेहद अकेलापन, किसी से कोई बातचीत नहीं, प्रिय मित्रों से भी दूर, खुद में ही उलझें रहना, कुछ क्षण आध्यात्म में जीना फिर भौतिक जगत के तर्क देना, अपने आप में ही अनगढ़ था। कभी इस शहर जाना कभी उस शहर जाना फिर वापस आना। अनीता राकेश भी कहती हैं कभी–कभी तो इन्हें समझ पाना बेहद कठिन था– "बेहद! कई बार तो बिल्कुल असम्भव लगनें लगता था। उन्हें अपने कमरे की पूरी सफाई भी चाहिए थी और कोई उनकी किसी चीज को छुए ये भी नागवार था। अब चीजों, कागजों, किताबों वगैरह कोई झाड़े– हुए भी नहीं और वे एकदम साफ भी रहे–ये कैसे मुमकिन है? मसलन उन्होंने स्पूलवाला एक टेपरिकार्डर खरीदा था। मुझे उसे चलानें तो क्या छूने तक की मनाही थी। अचानक एक दिन उन्होंने आवाज लगाकर मुझे बुलाया और पूछा अनीता देखो ये चल क्यों नहीं रहा है। मैंने देखा और कहा हाँ चल तो नहीं रहा, इस पर डाँटते हुए बोले वही तो मैं भी कह रहा हूँ ये चल क्यों नहीं रहा? मैंने डरते–डरते जवाब दिया मुझे क्या पता मैंने तो इसे हाथ भी नहीं

लगाया। इस पर नाराज होते हुए बोले 'क्या' पड़ा–पड़ा अपने आप खराब हो गया? तुमनें जरूर इसे झाड़ा–पोछा होगा?''[19] राकेश का स्वभाव बचपन से ही अलग था। साहित्य में प्रवेश एवं माता–पिता के निधन के पश्चात् बिल्कुल बदल गया और यही स्वभाव जीवन पर्यन्त चलता रहा।

राकेश के व्यक्तित्व को बाह्य रूप से समझना जितना कठिन था, आन्तरिक रूप से समझना उतना ही सरल था। संवेदनशील इतने थे कि किसी की भी भवुकता उनको अपनी ओर आकर्षित कर लेती थी। यह दूसरी बात थी कि व्यक्तित्व से समझौता बिल्कुल नहीं कर पाते थे, परन्तु उनका ह्रदय भावुक एवं दयालु था। सह्रदय प्रवृत्ति के अवश्य थे, लेकिन स्वतन्त्रता उन्हें अत्यधिक प्रिय थी। लगातार एक ही सांचे में ढले रहनें से उन्हें चिढ़ थी, इसका मूल कारण इनका आन्तरिक स्वभाव था। राकेश जी के जीवन का कोई भी कार्य गोपनीय नहीं रहा, समाज की परवाह किए बिना ही अपनी सुविधा अनुसार कार्य किया। इनकी खुली जिन्दगी एवं आन्तरिक व्यथा का जिक्र करते हुए कमलेश्वर लिखतें हैं–"राकेश की जिन्दगी एक खुली किताब रही है। उसने जो कुछ लिखा और किया वह दुनिया को मालूम है लेकिन उसने जो कुछ जिया यह सिर्फ उसे मालूम था।"[20]

राकेश की जिन्दगी हमेशा एक ठहराव के लिए भटकती रही, चाहे वह घर की तलाश रही हो या स्वतन्त्र लेखन की रूचि। राकेश जी का मानना था कि "रेत का ही सही पर एक घर तो होना ही चाहिए। इस आपूर्ति के लिए इधर–उधर भटकते, परन्तु ये 'सपना', सपना ही रहा, कभी पूर्ण नहीं हो पाया। शायद यही कारण था कि राकेश कभी एकान्त नहीं रह सकें। बचपन से लेकर जीवन पर्यंत समाज की जड़ता से विचलित रहे। स्वंय के व्यक्तित्व से लेकर घर की रूढ़ियों एवं परम्पराओं को भी

तोड़ डाला उनकी जीवन शैली, वैवाहिक सम्बन्धों, मनमाना व्यवसाय को प्रभाव स्वरूप देखा जा सकता है। राकेश जी की नई–नई खोजें सिर्फ परिवार या समाज के लिए नहीं थी, बल्कि साहित्य में पर्दापण कर एक नवीन रंगदृष्टि प्रदान की। इस साहित्यिक योगदान के सन्दर्भ में कमलेश्वर जी लिखते हैं–"सहित्य के लिए वह पुख्ता घर बना गया पर, अपने लिए वह पूरी रेत भी जमा नहीं कर पाया उसने कई घर बसाएं, पर उसे उसके मन का घर किसी ने बनाकर नहीं दिया। अधूरे घरों की रेंतीली कहानियों के बहुत से प्रसंग उसकी डायरियों में होंगे....।''[22]

राकेश जी बाह्य रूप से खुश अवश्य रहे, जोर–जोर ठहाके लगाएँ पर आन्तरिक रूप से उतने ही उदास रहें। इन्होंने सबको समझनें की कोशिश की, परन्तु इनको किसी ने नहीं किया। इनका यह अकेलापन, अजनबीयत ही नन्द, महेन्द्रनाथ के रूप में उभर कर आता है। जिस तरह ये सभी पात्र अपने खोखलेपन से ग्रसित है, ठीक वैसे ही राकेश जी भी। इन्हें स्वंय के 'होनें' का अर्थ असमंजस में डालता रहा, अपनी डायरी में लिखतें हैं–"क्या सचमुच मैं–'वह' हूँ। जिसकी कभी अपने से आशा होती थी और जिसकी कुछ दूसरे अब भी आशा रखते हैं? कभी–कभी अपनी योग्यता और असलियत पर बहुत सन्देह होता है। लगता है,यह सब बाहरी आडम्बर हैं–अपने को और दूसरे को छलनें की एक विडम्बना मात्र है। अपने लिखे से और लिखनें की इच्छा से वितृष्णा होती है। क्या सचमुच मुझमें वह है, जो इस कार्य के लिए होना चाहिए।"[22]

राकेश के साहित्य का अध्ययन करने के पश्चात् यह पूर्णतया सत्य साबित होता है कि राकेश के व्यक्तिगत जीवन और साहित्यिक जीवन में विभिन्नता नहीं, बल्कि एकरूपता है। इनकी आन्तरिक खोज एवं दृष्टि सभी पात्रों में देखने को मिलती है, विद्रोह और आक्रोश की कई मनःस्थितियाँ

उभर कर सामनें आती हैं, जिसे राकेश जी ने स्वंय अकेले ही झेला है। इस सन्दर्भ में मोहन राकेश का आत्मकथन है–"मैं वैयक्तिक और साहित्यिक दोनों स्तर पर अपने को जिन्दगी से जुड़ा हुआ पाता हूँ, पर जुड़े होने का अर्थ जिन्दगी की सब परिस्थितियों को स्वीकार करके चलना नहीं हैं, जिन्दगी में बहुत कुछ जिसके प्रति विद्रोह और आक्रोश मेरे मन में है, पर वह सब जिन्दगी के ऐतिहासिक उफान के अन्तर्गत आता है। इस विद्रोह और आक्रोश की ही कुछ परिस्थितियाँ हैं, जिसमें मैं कई बार अपने को अकेला पाता हूँ पर यह अकेलापन जूझनें की एक स्थिति है, किसी तरह का अलगाव नहीं, यह जिन्दगी से अकेला होना नहीं है, जिन्दगी के बीज अकेला पड़कर अपने जुड़े होने का निर्वाह करना है।"[24]

राकेश जी बहुत जिद्दी एवं अनगढ़ किस्म के इन्सान थे। उनकी इच्छा ही सर्वोपरि होती थी, इसके विरूद्ध न तो कोई कार्य ही करते और न ही आगे बढ़ते थे। यह बात दूसरी थी कि भावनात्मक स्तर पर उनसे कुछ भी करवाया जा सकता था, परन्तु वैचारिक या बौद्धिक पक्ष के प्रबल होनें पर उनसे कोई आगे नहीं निकल सकता था। और न ही झुकना सम्भव था, वे झुकते थे, परन्तु अपनी मर्जी से, किसी के हस्तक्षेप से नहीं। राकेश जी वैचारिक या बौद्धिक स्तर पर एक आधुनिक एवं प्रगतिशील व्यक्ति थे लेकिन परिवार से प्राप्त संस्कार के कारण वैयक्तिक जीवन में उतने ही मध्ययुगीन भी थे। राकेश जी का चरित्र अन्तर्विरोधों से पूरी तरह भरा था सबके अपने स्थान निर्धारित कर रखे थे, उसकी सीमा को लाँघना न तो राकेश को पसन्द था और न ही दूसरों के द्वारा की गई अवज्ञा को क्षम्य समझते थे, जिसके कारण उन्हें कई सामाजिक फाब्तियाँ सहनी पड़ी, लोगों द्वारा कई लांक्षन लगाए गए, परन्तु राकेश अडिग रहे। ऐसे ही एक अन्तर्विरोध के सन्दर्भ में 'चंद संतरे और' में अनीता राकेश लिखती हैं

"राकेश अपने दोस्तों के लिए जीतें हैं, राकेश बहुत आत्मकेद्रित हैं, उनकी दोस्तियाँ निभती हैं दूसरों की वजह से, बँधे वे भी न रहे..... न व्यक्तियों से न जगहों से, न नौकरियों से।"[25]

इस तरह राकेश जी का जीवन छोटी–छोटी घटनाओं का एक समूह बन गया, जिससे राकेश जी स्वयं प्रभावित हुए। शायद यही कारण था कि जीवन के वो प्रत्येक क्षण भोगना चाहते थे, जो एक साधारण इन्सान नहीं भोग पाता है। यह दूसरी बात थी कि सामाजिक रूप से कई अपवाद लग चुके थे, विशेष रूप से पत्नियों, नौकरियों एवं अनगढ़ स्वतन्त्रता के सन्दर्भ में। इस विषय पर ध्यान न देकर कई विसंगतियों एवं अन्तर्विरोधों को झेलनें के बावजूद लेखन कार्य जारी रखा और उसी समाज तथा साहित्य को एक नवीन दृष्टि प्रदान की। एक तरफ पारिवारिक जिम्मेदारियाँ थी, तो दूसरा वैवाहिक जीवन से मिली कटुता। आर्थिक तंगी हमेशा सिर पर मँडराती रही, इसी तरह की परिस्थितियों ने राकेश को एक समान नहीं रहनें दिया, एक के बाद एक घटनाओं ने राकेश को आन्तरिक रूप से तोड़ दिया। इस परिप्रेक्ष्य में राकेश जी का स्वकथन है कि–"कुछ लोगों की जिन्दगी में बिखराव बहुत होता है, मैं अपने को ऐसे ही लोगों में पाता हूँ। बिखरना और बिखेरना मेरे लिए जितना स्वाभाविक है, संभालना और समेटना उतना ही आस्वाभाविक, स्वाभाविक प्रक्रिया में जहाँ सब कुछ अनायास होता है, वहाँ अस्वाभाविक प्रक्रिया बहुत धैर्य और सायास की मांग करती है।"[26]

राकेश जी का स्वभाव कभी भावुक रहता था, तो कभी अहम्वादी। सगे सम्बन्धी, मित्र, परिवार सभी अपने दृष्टिकोण से देखते रहें। किसी की तरफ जितनी जल्दी आकर्षित होते थे, तो उतनी ही जल्दी अलगाव का बोध मन में व्याप्त हो जाता। इस अस्वाभाविक प्रवृत्ति के बारे में डायरी में

लिखतें हैं–"सच कैसा हूँ मैं? कहीं बहुत रूखा कहीं बहुत कोमल। एक क्षण बहुत खुश दूसरे क्षण बहुत उदास, किसी क्षण अपने पर बहुत विश्वास होता है, किसी क्षण बिल्कुल नहीं रहता है।''[27] राकेश जी का यही अतिवाद दैनिक जीवन में भी देखनें को मिलता है, यदि कोई कार्य करते हैं तो उसे तुरन्त पूर्ण करने की तमन्ना रखते, पढ़नें चलते तो तुरन्त ही पन्ने पलट–पलट कर पूरे अध्यायों में दौड आते, लेखन कार्य के लिए बिल्कुल शान्त वातावरण एवं स्वतन्त्रता की चाहत रखते, खाना–खानें बैढ़ते तो तुरन्त ही निगलकर चार मिनट में समाप्त कर देते, चाय पीते इतनी गरम की गला ही जल जाए, इसके विपरीत यदि पानी पीते तो इतना ठण्डा की स्वास्थ्य ही असन्तुलित हो जाए और यदि हँसनें लगते तो इतना कि उसी क्षण उदास हो जाते आदि आस्वाभाविक क्रियाएँ राकेश के जीवन में प्रतिकूल प्रभाव डालती है। यही कारण था कि उनके दोस्त एवं पत्नियाँ दूर भी रहा करते। इनके व्यक्तित्व में विविधता एवं अनेकता देखनें को मिलती है, वे बाह्य रूप से जितना जिन्दादिल एवं खुशमीजाज दिखते थे, आन्तरिक रूप से उतनें ही उदास, अकेले एवं हताश –निराश भी रहते थे।

मोहन राकेश की मृत्यु 3 दिसम्बर 1972 नई दिल्ली में हुई थी। राकेश का न रहना सिर्फ पारिवारिक संकट ही नहीं था, बल्कि सम्पूर्ण नाट्य साहित्य की क्षति थी। 'पैरों तले की जमीन' नाटक को टाइप कर रहे थे कि तभी अचानक हृदय गति रूक जाती है और सदा–सदा के लिए मोहन राकेश इस संसार को अलविदा कह देते हैं। राकेश की मृत्यु साहित्य के प्रबुद्ध जनों के लिए शोक का विषय बन गया। इन्द्रिरा गाँधी ने भी दुःख प्रकट करते हुए यह कहा था कि मोहन राकेश की मृत्यु हिन्दी साहित्य की बहुत बड़ी हानि है।

(2) कृतित्व–

आधुनिक हिन्दी साहित्य के प्रतिष्ठित एवं ख्यातिलब्ध मोहन राकेश का योगदान हिन्दी गद्य विधाओं में अविस्मरणीय रहेगा। प्रथमतः मोहन राकेश जी कहानीकार के रूप में प्रसिद्ध हुए, परन्तु सन् 1958 ई0 में प्रकाशित नाटक 'आषाढ़ का एक दिन' की उपलब्धि एवं उत्कृष्टता के कारण राकेश जी हिन्दी जगत में नाटककार के रूप में प्रख्यात हो गए।

हिन्दी साहित्य की अन्य गद्य विधाओं में जैसे– उपन्यास, कहानी, नाटक, डायरी, यात्रावृतान्त, निबन्ध, कविता और अनुवाद इत्यादि क्षेत्रों में भी अपना विशिष्ठ योगदान दिया है। यह उनकी गहन अनुभूति, चिन्तन शक्ति एवं सूक्ष्म विश्लेषण के द्वारा ही सम्भव हो पाया है। इतना ही नहीं राकेश जी प्रथम श्रेणी के कलाकार भी थे, कई बार इन्होंने स्वयं अभिनय किया और स्वरचित नाटकों में भी कई किरदार निभाएँ हैं। शायद यही कारण था कि इतने कम समय में हिन्दी रंगमंच को एक नवीन आयाम दे पाएं। लगभग साहित्यकारों का कृतित्व उनके व्यक्तिगत जीवन से प्रभावित अवश्य रहता है, कुछ ऐसा ही मोहन राकेश के कृतित्व में भी देखनें को मिलता है, चाहे नाटक, कहानी हो या उपन्यास आदि सभी रचनाओं में राकेश जी का व्यक्तित्व दृष्टव्य होता है।

राकेश जी स्वतन्त्र प्रवृत्ति के थे अपने लेखन के लिए हमेशा गतिशील एवं शान्त वातावरण की तलाश में रहते, जब कभी भी बाधा उत्पन्न होती दिखती, तुरन्त उसे छोड़ देते, चाहे वह नौकरी रही हो या पत्नी। यही कारण था कि राकेश जी का ठहराव एक जगह नहीं हो पाया और अपने लेखन के लिए इधर–उधर भटकते रहें। पारिवारिक जिम्मेदारी एवं आर्थिक अभाव के कारण राकेश जी भले ही सांसारिक कर्मो में लगे रहे, परन्तु उनका मन पूर्णतः लेखन के लिए समर्पित था।

नाट्य साहित्य

(1) आषाढ़ का एक दिन–मोहन राकेश की यह प्रथम नाट्य कृति है, जिसका प्रकाशन सन् 1958 ई0 में होता है। तीन अंको में विभाजित यह नाटक अपने–आप में अप्रतिम है। प्रस्तुत नाटक की कथावस्तु ऐतिहासिक होते हुए भी एक तरफ आधुनिक मानवीय सम्बन्ध, द्वन्द्व, घुटन, संत्रास एंव मनोभावों को व्यक्त करता है, तो दूसरी तरफ स्त्री–पुरुष सम्बन्धों को भी। नाटक के केन्द्रीय पात्र कालिदास एवं मल्लिका हैं, जो परस्पर प्रेम में अनुरक्त हैं। अन्य पात्रों में अम्बिका, प्रियंगुमंजरी, मातुल, विलोम, अनुस्वार, अनुनासिक, रंगिणी, संगिणी एंव राजपुरुष दन्तुल के साथ ग्राम प्रान्त भी हैं, जो समय–समय पर मंच पर अपनी उपस्थिति दर्ज कराकर नाटक को सफल एवं जीवंत बनातें हैं। लेखक मोहन राकेश ने कालिदास के माध्यम से एक कलाकार या साहित्यकार की स्थिति को जो कि एक सत्ता के बीच किस तरह पिस जाता है, उसे बखूबी प्रदर्शित किया है। दूसरी तरफ आधुनिक मानव बेरोजगार एवं सफल व्यक्ति के द्वन्द्व को भी चित्रित किया है। नारी पात्र मल्लिका के माध्यम से लेखक ने स्त्री संघर्ष एवं भावनात्मक परिणाम को अंकित किया है, तो वही अम्बिका के माध्यम से यथार्थपूर्ण जीवन दृष्टि एवं मातृत्व को भी उजागर किया है। नाटक के अन्य पात्र भी किसी न किसी सामाजिक आधार को लिए अपना दृष्टिकोण प्रदर्शित करते हैं। नाटक के नवीन दृष्टिकोणों को देखते हुए सन् 1959 ई0 में संगीत नाटक अकादमी द्वारा पुरुस्कृत भी किया गया है। नाटक की उत्कृष्टता के सन्दर्भं में सम्पादक नेमिचन्द्र जैन कहते हैं–"एक प्रकार से उपेन्द्रनाथ अश्क और जगदीशचन्द्र माथुर ने विशेषकर जगदीशचन्द्र माथुर ने, नाटक में सहज स्वाभाविक और नाटकीय यथार्थपरकता और काव्यात्मकता के जिस मिश्रण का सूत्रपात किया, उसकी महत्वपूर्ण परिणति 'आषाढ़ का एक

दिन' में हुई है।"[28] आगे पात्रों के परिपेक्ष्य में इंगित करते हुए नेमिचन्द्र जैन पुनः कहते हैं– "मोहन राकेश की सूझ–बूझ और शिल्पकुशलता 'आषाढ़ का एक दिन' के सहायक और अपेक्षाकृत गौण पात्रों की परिकल्पना और रूपायन में दिखाई पड़ती है। कालिदास का प्रतिद्वन्द्वी विलोम वास्तव में उसका विलोम तो है ही, उससे अधिक जीवन और नाटकीय दृष्टि से अधिक विकसित पात्र भी है। नाटक के कार्य व्यापार में लगभग विस्फोटक तीव्रता और करुणा उसी की उपस्थिति से पैदा होती है। उसे तथा कथित खलनायक कहकर नहीं उड़ाया जा सकता। विलोम के बिना 'आषाढ़ का एक दिन' और भी भावुकता पूर्ण और बेहद शिथिल नाटक रह जाता। उसके तर्को में हीं नहीं उसकी पूरी जीवन दृष्टि में एक ऐसी अकाट्यता और अनिवार्यता है कि उसकी गिनती हिन्दी नाटक के कुछ अविस्मरणीय पुरुष पात्रों में होगी। कई प्रकार से विलोम मोहन राकेश की एक अनुपम नाटकीय चरित्र सृष्टि है।"[29]

(2) लहरों के राजहंस – मोहन राकेश की यह द्वितीय नाट्य कृति है, जिसका प्रकाशन सन् 1963 ई0 में होता है और इस नाटक में भी तीन ही अंक हैं। नाटक की कथावस्तु ऐतिहासिक है फिर भी लेखक ने पात्रों के माध्यम से आधुनिक मानव के अतर्द्वन्द्व, संत्रास, घुटन एवं स्त्री अह्म भावना को प्रदर्शित किया है। नाटककार ने इस नाटक में 'बुद्ध' के सौतेले भाई नन्द और उसकी सौन्दर्यवती पत्नी सुन्दरी के माध्यम से नारी के आकर्षण और विकर्षण की अनुभूति को अभिव्यक्त करने का सफल प्रयास किया है। अन्य पात्रों में श्वेतांग, श्यामांग, सहचरी अलका, निहारिका एवं बौद्ध भिक्षु आनन्द आदि आते हैं। लेखक ने आध्यात्मिक एवं ऐतिहासिक कथानक के माध्यम से भौतिक जगत् के प्राप्य – अप्राप्य या प्रेय एवं श्रेय के आप्राकृतिक अन्तर्द्वन्द्व को प्रदर्शित किया है, जहाँ व्यक्ति को निर्णय

लेना बहुत ही कठिन एवं दुर्गम हो जाता है। नायक नन्द के निर्णय लेने को ही नाटक का विषय (केन्द्रीय बिन्दु) बनाया गया है। 'लहरों के राजहंस' की कथावस्तु राकेश जी ने अश्वघोष के 'सौन्दरनन्द' नामक काव्य से प्राप्त किया है। जिसका उल्लेख राकेश जी नाटक की भूमिका में करते हुए कहते हैं कि–"प्रस्तुत नाटक का आधार भी ऐतिहासिक है। उतने ही अर्थ में जितना इस व्याख्या में आता है। इस कथानक का आधार 'अश्वघोष' का 'सौन्दरनन्द' काव्य है, परन्तु समय के विस्तार में स्थितियों का परिक्षेपण करने के कारण यह काल्पनिक भी है। काल्पनिक 'अश्वघोष' का 'सौन्दरनन्द' काव्य भी है।"[30] इस नाटक की विषयवस्तु या कथानक संक्षिप्त तो है लेकिन कथानक में इतिहास और कल्पना का मिश्रण किया गया है। मोहन राकेश के नाटकों के सन्दर्भ में डॉ0 'आभा गुप्ता ठाकुर' का कथन है–"ऐतिहासिक पृष्ठभूमि पर आधारित होते हुए भी उनके नाटकों का मुख्य सरोकार आज के मनुष्य की बेचैनी और आन्तरिक संघर्ष को अभिव्यक्ति करना है। अपने नाटकों में राकेश ने यह भी दर्शाया है कि हर व्यक्ति को अपनी मुक्ति का मार्ग स्वयं ही खोजना पड़ता है। दूसरों के द्वारा दिया गया समाधान चाहे जितना आकर्षक और मोहक हो वह किसी संवेदनशील व्यक्ति का समाधान नहीं हो सकता, इसलिए 'लहरों के राजहंस' नाटक के अन्त में नन्द ने केवल बुद्ध द्वारा थोपा गया भिक्षुत्व अस्वीकार कर देता है, बल्कि सुन्दरी के आकर्षण से मुक्त होकर अपनी मुक्ति के मार्ग को खोजनें चला जाता है।''[31]

(3) आधे–अधूरे –मोहन राकेश की यह तीसरी नाट्य कृति है, जिसका प्रकाशन सन् 1969 ई0 में हुआ। इस नाटक में लेखक ने आधुनिक मध्यवर्गीय भारतीय परिवार के खोखले एवं अधूरेपन को चित्रित किया है। नाटक में प्रत्येक पात्र अधूरेपन के मानसिक द्वन्द्व को झेल रहे हैं और

उसके पूर्ण रूप को प्राप्त करने की लालसा में इधर–उधर भटक रहें हैं। नाटक की नारी पात्र एवं नायिका 'स्त्री' (सावित्री) हैं और पुरुष वर्ग का प्रतिनिधित्व करते हुए 'महेन्द्रनाथ' एक दूसरे से प्रेम करते हैं, परन्तु विवाहोपरान्त सावित्री की मनोकामनाएँ अनन्त हो जाती हैं, जिसे पूर्ण करने में महेन्द्रनाथ सक्षम नहीं हो पाता है, तो सावित्री को 'महेन्द्रनाथ' से वितृष्णा होने लगती है एवं पति से प्राप्त अधूरेपन को अन्य पुरुषों में खोजनें लगती हैं, कभी जुनेजा, जगमोहन, सिंघानिया साहब तो कभी मनोज। परन्तु उसे अन्ततः इन पुरुषों में भी अधूरापन मिलता है। महेन्द्रनाथ की प्रारम्भ में आर्थिक स्थिति ठीक होती है, लेकिन व्यवसाय में लाभ न प्राप्त होनें के कारण वह धीरे–धीरे बेरोजगार हो जाता है और आर्थिक रूप से अपनी पत्नी सावित्री पर निर्भर हो जाता है। अन्य पात्रों में बड़ी लड़की बिन्नी, छोटी लड़की किन्नी, बेटा अशोक आदि प्रमुख हैं, जो कहीं न कहीं अपने अधूरेपन से ग्रसित हैं। बिन्नी माँ के ही प्रेमी मनोज के साथ भाग जाती है और द्वन्द्व में जीती हुई इस बात से परेशान है कि वह कौन सी चीज है, जो इस घर से ले गई है। यह बात उसे हर समय व्यथित करती है और अन्ततः अपनी माँ के घर वापस आकर वहीं रहनें लगती है। किन्नी अभी छोटी है, परन्तु अपने स्वभाव से धृष्ट एवं चिढ़चिढ़ी है, वह छोटे या बड़ों का कोई आदर सम्मान नहीं करती है और आयु की अपेक्षा कम उम्र में ही अश्लील बातों में रुचि लेने लगती है। बेटा अशोक भी घर पर ही अलसाया सा सारा दिन इधर–उधर और मैंगजीन से अभिनेत्रियों की फोटो काटता रहता है। इसका मन किसी कार्य में नहीं लगता है। माँ द्वारा नौकरी की तलाश को भी व्यर्थ मानता है और माँ के ही बॉस सिंघानिया का अनादर करता है। इसको सिर्फ अपने डैडी महेन्द्रनाथ के प्रति सहानुभूति रहती है। प्रस्तुत नाटक के

सन्दर्भ में डॉ0 'शोभा चतुर्वेदी' ने उल्लेख किया है कि–''जिस तरह नाटक का आरम्भ और समाप्ति एक ही बिन्दु पर सृजित लगता है, उसी तरह नाटक के पात्र भी किसी एक बिन्दु पर से ही लगते हैं। नाट्यारम्भ में काले सूट वाला आदमी कहता है–बात इतनी ही है कि विभाजित होकर मैं किसी न किसी अंश में आप में से हर एक व्यक्ति हूँ, चरित्र सृष्टि की इस विशेषता को बिन्नी, किन्नी और सावित्री एक ही व्यक्तित्व के अलग–अलग रूप हैं। नाटक में यह बहुत स्पष्ट हो जाता है कि बिन्नी और किन्नी दोनों सावित्री के व्यक्तित्व का ही भाग है, उसी का स्पष्टीकरण है। बिन्नी के वैवाहिक सम्बन्ध की असफलता, मानसिक असंतोष और किन्नी का झगडालू, विद्रोही स्वभाव उसी के व्यक्तित्व के अंग हैं। इसी तरह अशोक को बेकारी और माँ के प्रति क्रोध, चिढ़, घर से भाग जाने की इच्छा महेन्द्र की जिन्दगी की ही पुनरावृत्ति है।"[32]

(4) पैरों तले की जमीन–मोहन राकेश की यह चतुर्थ नाट्य कृति है। यह एक आधुनिक यर्थाथवादी नाटक है। यह कृति अपूर्ण थी, जिसे कमलेश्वर ने पूर्ण किया। इस नाटक के प्रत्येक पात्र बिखरे हुए चरित्र के है और आधुनिक जीवन की विसंगतियों, अन्तर्द्वन्द्व, सम्बन्धहीनता, अनैतिक व्यवहार, मूल्य हीनता, सामाजिक विकृतियों एंव कुण्ठा से ग्रसित हैं। केन्द्रीय पात्र सलमा एवं उनके पति अयूब साहब है। सलमा डाक्टर से प्रेम करती है फिर भी अयूब से विवाह कर लेती है, जिससे एक दूसरे के प्रति अविश्वास एवं सम्बन्ध हीनता बढ़ती ही जाती है। आधुनिक वर्ग के ये दोनों पात्र सर्वत्र एक दूसरे की वितृष्णा एवं मन–मुटाव में जीते हैं। अन्य पात्रों में अब्दुला, नियामत, पण्डित, झुनझुनवाला रीता और छोटी लड़की नीरा आदि पात्र आते हैं। ये सभी पात्र मरने से पहले एक बार

अपने लिए खुल कर जीना चाहते हैं। नाटक का प्रत्येक पात्र एक आधुनिक समाज का प्रतिनिधित्व करते हुए जी रहा है।

उपन्यास साहित्य

उपन्यास कथा साहित्य की एक सशक्त विधा रही है, जिसमें महाकाव्यात्मक स्वरूप देखनें को मिलता है। किसी युग को जाननें के लिए उपन्यास एक सशक्त माध्यम रहा है। प्रेमचन्द्र के उत्कृष्ट व्यक्तित्व को ध्यान में रखते हुए इस विधा को प्रेमचन्द्र पूर्व उपन्यास, प्रेमचन्दयुगीन उपन्यास एवं प्रेमचन्दोत्तर उपन्यास में विभाजित किया गया है। प्रेमचन्दोत्तर युग (आधुनिक युग) में मोहन राकेश का स्थान अप्रतिम है। नाटक की ही भाँति राकेश जी को उपन्यास साहित्य में भी सफलता प्राप्त हुई है।

(1) अन्धेरे बन्द कमरे– यह उपन्यास परिस्थितियों एवं समस्याओं को निरूपित करता हुआ दिल्ली के एक उच्च मध्यवर्गीय परिवार के जीवन से सम्बन्धित है। प्रमुख पात्र हरिवंश एवं नीलिमा हैं, जिस पर पश्चिमी आधुनिकता का बहुत गहरा प्रभाव पड़ता है लेकिन साथ ही वंशानुगत संस्कार की एक गहरी छाप भी होती है। दोनों के बीच में हमेशा द्वन्द्व चलता रहता है, क्योंकि भौतिक जगत में आगे बढ़ते–बढ़ते वे आपस में विश्वास एवं भरोसा खोते जाते हैं। एक ओर जहाँ हरवंश खुले दिमाग (आधुनिक मानव) का होता है अपने अस्तित्व को साबित करना चाहता है, वहीं नीलिमा को आगे बढ़ने के लिए प्रेरित करता है कि वह जीवन में कुछ करे और नीलिमा इस तरह चार दीवारी में कैद न रहे, नीलिमा कोशिश भी करती है, परन्तु जब कोई बात होती है तो नीलिमा उसका विरोध करने लगती है, जिसके कारण हरिवंश का पुरुषत्व अह्म जाग्रत हो जाता है और वह कभी शहर कभी घर छोड़कर जानें का दृढ़ निश्चय

करता है। अन्य पात्रों में मधुसूदन, ठकुराइन, सुषमा और शुक्ला हैं, जो अपने प्रभावी व्यक्तित्व के जरिए समाज पर गहरा प्रभाव डालतें हैं। इससे यह स्पष्ट होता है कि राकेश जी ने आधुनिक मध्यवर्गीय परिवार की विसंगति, अन्तविर्रोध, द्वन्द्व, घुटन, संत्रास एवं यर्थाथवादी दृष्टकोण के साथ ही साथ स्त्री–पुरुष सम्बन्धों के बीच आए बदलाव, अजनबीयत एवं अकेलेपन को प्रस्तुत किया है। इस उपन्यास का प्रकाशन सन् 1969 ई0 में होता है।

(2) न आने वाला कल–लेखक ने प्रस्तुत उपन्यास में बदलते सामाजिक परिवेश एवं आधुनिक जीवन की प्रतिक्रियाओं को सूक्ष्मदृष्टि से वर्णित किया है। यह उपन्यास समाज में व्याप्त अनैतिक कार्यो को न सिर्फ अभिव्यक्ति देता है, बल्कि इस समस्या को झेल रहे प्रत्येक व्यक्ति की त्रासदी की मार्मिक पुष्टि करता है। प्रमुख पात्र मनोज सक्सेना हैं, जो अंग्रेजी माध्यम में एक पब्लिक स्कूल में हिन्दी अध्यापक हैं। मनोज जी स्कूल में व्यक्तिगत कारणों से त्यागपत्र दे देते हैं। त्यागपत्र देनें के पश्चात् स्कूल का भविष्य क्या होगा? कैसी–कैसी समस्याएँ उत्पन्न होंगी? आदि विचारों को उपन्यास में प्रस्तुत किया गया है। मनोज सबके बीच में भी अपने आपको अकेला महसूस करता है, यही करण है कि वह तनाव में रहता है। अन्य पात्रों में शोभा, शारदा और कोहली आदि अपनी भूमिका निभातें हैं जो आधुनिक जीवन के प्रतीक हैं। उपन्यास को लेखक ने सात अध्यायों में विभक्त किया है, जो क्रमशः इस्तीफा, डर, कुर्सी, नाटक, सड़क एवं दरवाजा है। इस उपन्यास का प्रकाशन सन् 1968 ई0 में होता है।

(3) अन्तराल–मोहन राकेश की प्रकाशित यह तीसरी उपन्यास कृति है जो तीन खण्डों में विभक्त है अन्तराल–1, अन्तराल–2, अन्तराल–3।

अन्तराल एक आधुनिक नारी के संशय ग्रस्त, भ्रमित जीवन की कथावस्तु है। श्यामा एवं कुमार उपन्यास के केन्द्र बिन्दु हैं, जो अपने पतिदेव की मृत्यु के पश्चात् कुमार के साथ हमेशा के लिए रहनें लगती हैं। लेखक ने स्त्री जीवन संघर्ष के साथ–साथ वैधव्य जीवन की कठिनाइयों एवं सामाजिक विसंगतियों को उजागर किया है। लेखक ने श्यामा के माध्यम से मानव सम्बन्धों के उन परिवारों का चित्रण किया है, जो सांस्कृतिक, सामाजिक एवं आर्थिक जीवन का विरोध भी करता है और उसी में फँसता भी जा रहा है। प्रस्तुत उपन्यास का प्रकाशन सन् 1972 ई0 में होता है।

जिस प्रकार राकेश जी तीन नाटक लिखे उसी प्रकार तीन उपन्यास कृतियों की रचना की और तीनों उपन्यास प्रसिद्ध भी हुए। इन उपन्यासों में आधुनिक मध्यवर्गीय परिवार की समस्याओं को विशेष रूप से दम्पति जीवन को उजागर किया गया है।

कहानी साहित्य

प्राचीनकाल से ही कहानी एक लोकप्रिय विधा रही है, जिसका विकास आधुनिक काल के द्विवेदीयुग में होता है। उत्तरोत्तर शीध्र ही कहानी चरमोत्कर्ष पर पहुँच जाती है। मोहन राकेश की कहानियाँ आधुनिक युग की नई कहानी के अन्तर्गत आती हैं।

राकेश जी प्रथम कहानी बाइस वर्ष की अवस्था में लिखे थे, यह कहानी थी 'नन्ही' जो कि सन् 1944 ई0 में प्रकाशित हुई। इस कहानी में नवविवाहित की पीड़ा एवं घुटन, द्वन्द्व के साथ ही साथ माँ से बिछड़े नवजात बालक की भावना एवं कारुणिक दृश्य का वर्णन किया है। यदि मोहन राकेश की डायरी के अनुसार विश्लेषण किया जाए तो उनकी पहली कहानी 'भिक्षु' मिलती है, जो सरस्वती के भाग 46 में प्रकाशित हुयी थी।

प्रस्तुत कहानी में बौद्ध भिक्षुओं के त्याग, मोह, लालसा, सांसारिक वासना, कामना, द्वन्द्व आदि के साथ ग्लानि को निरूपित करने का प्रयास किया गया है। राकेश जी ने कुल नौ कहानियों के संग्रह प्राप्त हुए हैं, जिसमें मध्यवर्गीय जीवन के खोखलेपन एवं अजनबीयत को वर्णित किया गया है। कहानियों के पात्र समाज के प्रत्येक वर्ग का प्रतिनिधित्व करते दिखाई पड़तें हैं। परमात्मा का कुत्ता एक ऐसी ही कहानी है, जिसमें दफ्तर में बैठे अन्यायी कर्मचारियों को जिसे राकेश जी ने 'विशेषण' के रूप में 'कुत्ता' शब्द से सम्बोधित किया है। इस कहानी को व्यंग्योक्ति के माध्यम से प्रस्तुत किया है, इसलिए इसे व्यंग्य प्रधान कहानी भी कह सकतें हैं। 'मलबे का मालिक' कहानी विशेषतः देश विभाजन पर आधारित है, विभाजन से ही उत्पन्न समस्याओं एवं परिस्थितियों की त्रासदी का वर्णन किया गया है। नयें एवं पुरानें मूल्यों की टकराहट और विवाहोपरान्त पति–पत्नी सम्बन्ध, विच्छेद, अविश्वास, तनाव के परिणामों को कहानी 'एक और जिन्दगी' में निरूपित किया गया है। 'आर्द्रा' कहानी में स्नेहमयी माँ को आश्रय बनाकर नयें मूल्य एवं आधुनिकता को प्रस्तुत किया गया है। इस कहानी में मनोवैज्ञानिकता के लक्षण पूरी तरह से विद्यमान हैं। न्याय एवं अन्याय का सहारा लेनें वाले व्यक्तियों का वर्णन 'क्लेम' कहानी में मिलता है, जिन्हें सरकार की तरफ से क्लेम प्राप्त होता है, वे सुविधाजनक जिन्दगी व्यतीत करते हैं, परन्तु जो सच में 'क्लेम' के हकदार होते हैं उन्हें कोई सुविधाजनक व्यवस्थाएँ प्राप्त नहीं होती हैं। विरोध करने पर न्याय एवं अन्याय का पर्दाफाश होता है। इसी प्रकार की अन्य कहानियाँ हैं–'इन्सान के खण्डहर', 'नये बादल', 'जानवर और जानवर', 'फौलाद का आकाश', 'क्वाटर', 'बारिश', 'पहचान' एवं 'मेरी प्रिय कहानियाँ' इत्यादि।

कविता

रचनात्मक स्तर पर सर्वप्रथम राकेश जी ने कविता के लिए ही लेखनी उठायी थी, तब राकेश जी महज आठ साल के थे और यह कविता हिन्दी पत्रों में बच्चों के कॉलम में छपी थी। कुछ कविताएँ संस्कृत भाषा में लिखी थी, जो उस समय के 'संस्कृत' की एक पत्रिका (संस्कृत जनरल्स) में छपी थी। विशेषतः ये कविताएँ राकेश जी अपने पिता करमचन्द्र गुगलानी को प्रसन्न करने हेतु लिखा करते थे।

लेखक की हिन्दी कविताएँ दो धाराओं से प्रभावित थी। प्रथम सुमित्रानन्दन पंत एवं महादेवी वर्मा से, तो दूसरी राष्ट्रीय एवं सांस्कृतिक प्रगतिशीलता से। संस्कृत की लिखी कविताएँ ज्यादातर कालिदास के मेघदूत से हुआ करती थी। उसमें से एक युद्धरत भारतीकायाः' (उस औरत का सपना जिसका पति युद्ध में गया हो) यह कविता चौदह वर्ष की उम्र में लिखी गयी थी। इनकी दो कविताएँ 'उन्नीसवाँ सिगार' और 'चाबुक' जिसे सारिका पत्रिका में प्रकाशित किया गया था।

निबन्ध साहित्य

मोहन राकेश जी ने छोटे–छोटे कई निबन्ध (लेख) लिखें हैं। 'परिवेश' ऐसा ही 'इक्कीस' निबन्धों का एक संग्रह है, जिसमें ज्यादातर साहित्यिक निबन्ध प्राप्त होते हैं। इस निबन्ध संग्रह में विषय अलग–अलग भी मिलतें हैं जैसे 'चीटियों की पंक्तियाँ' उनका महत्वपूर्ण निबन्ध है, जिसमें लेखक ने बचपन की स्मृतियों को विशेष रूप से चित्रित किया है। अन्य प्रमुख निबन्धों में 'कोई गलत फहमी नहीं' 'जमीन से कागजों तक', 'विज्ञापन युग', 'दिल्ली रात की बाहों में', 'कमरे–कमरे से बाहर', 'नाट्य पुस्तकों को चाहिए' और 'अनुभूति से अभिव्यक्ति तक'। दूसरा निबन्ध संग्रह 'बकलम खुद' को

विशेष प्रसिद्धी प्राप्त हुई है। इस निबन्ध में राकेश जी के वैयक्तिक जीवन से सम्बन्धित अनेक विवरण उपलब्ध हुए हैं 'आइने के सामनें', 'रंगमंच और शब्द', साहित्यिक और सांस्कृतिक दृष्टि', 'नई निगाहों के सवाल' आदि। राकेश जी के निबन्ध वैचारिक एवं बोधात्मक स्तर के होते थे।

यात्रा वृतान्त

यात्रावृतान्त 'आखिरी चट्टान तक' बहुत चर्चित कृति रही है, जिसका प्रकाशन सन् 1953ई0 में हुआ था। राकेश जी ने सन् 1952–1953 ई0 के बीच गोवा से कन्याकुमारी तक की यात्रा का गत्यात्मक वर्णन किया है। प्रस्तुत यात्रावृतान्त में प्रकृति चित्रण, आँचलिकता, भावनात्मक एंव आत्मिक द्वष्टिकोण, सामाजिक, राजनीतिक जीवन के साथ सांस्कृतिक परिदृश्यों को भी निरूपित किया है, धार्मिक स्थलों में–गिरिजा घरों, मंदिरों, सूर्योदय से सूर्यास्त तक कन्याकुमारी के सौन्दर्य को बिम्बों के माध्यम से प्रस्तुत किया है, यह स्थल राकेश जी को बहुत प्रिय था, जिसके सम्बन्ध में अपनी डायरी में लिखतें हैं–"यह स्थान और यहाँ का वातावरण दोनों मुझे इस तरह प्रभावित कर रहे। बार–बार इच्छा होती है यहाँ एक छोटा–सा घर बना लूँ..... कुछ वैसा ही जैसा कि मैं कल्पना करता हूँ और उसमें रहनें लगूँ। साल में छह–आठ महीनें घूमा करूँ या अन्यत्र कहीं रहा करूँ ..... जीवन के प्रवाह के बीच और शेष समय यहाँ आ जाया करूँ ..... जीवन से जो कुछ ग्रहण किया हो, उसे अपने में समा कर देखनें के लिए, मनन और चिन्तन के लिए परन्तु इसे सम्भव बनानें के लिए आर्थिक सुविधाएँ मुझे प्राप्त नहीं .....।''[33]

एकांकी साहित्य

नाटक के साथ–साथ राकेश जी ने एकांकी भी लिखीं हैं। 'अण्डे के छिलके' एकांकी संग्रह विशेष रूप से प्रसिद्धि को प्राप्त हुआ। रेडियो की प्रस्तुति के लिए राकेश जी 'रात बीतनें तक' नामक नाटक लिखा था। इनके कुछ बीज नाटक 'शायद' और 'हाँ' भी मिलतें हैं, जो एकांकी संग्रहों में ही संग्रहीत है। राकेश जी के एकांकी भी नाटकों की भाँति प्रसिद्ध रहे हैं। यही कारण है कि राकेश जी के नाटक एवं एकांकी राष्ट्र में ही नहीं, बल्कि अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर 'रंगमंच' पर प्रस्तुति का श्रेय प्राप्त कर चुके हैं।

जीवनी साहित्य

यात्रावृतान्त के साथ–साथ राकेश जी ने 'समय सारथी' नामक रचना लिखी थी, जो जीवनी विधा के अन्तर्गत आती है। इस जीवनी में सामाजिक कार्यकार्ताओं के साथ ही महापुरुषों की जीवनी चित्रित है। इस रचना में कवि, कलाकार, तत्वज्ञानी और महान राजनीतिक नेताओं से सम्बन्धित बहुआयामी व्यक्तित्व के धनी अस्तित्व मिलतें हैं। गौतम बुद्ध, सुकरात, अशोक, जोनऑफ अर्क, कबीर, मीरा, दयानन्द सरस्वती, भगत सिंह महात्मा गाँधी, मार्टिन लूथर और राजनीतिक पण्डित जवाहर लाल नेहरू आदि महापुरुषों की जीवनियाँ प्रस्तुत करने का सफल प्रयास किया गया है।

डायरी साहित्य

मोहन राकेश जी ने अपनी व्यक्तिगत डायरी में साहित्यिक विकास यात्रा राजनीतिक, सामाजिक दृष्टिकोण, मित्रवत–व्यवहार, प्रेम–प्रसंग, नयी

कहानी आन्दोलन आदि का विवरण दिया है, परन्तु डायरी में 1948 से लेकर 1968 तक का साहित्यिक एवं व्यक्तिगत जीवन का उल्लेख किया है। यह डायरी मोहन राकेश के तेरह वर्ष पश्चात् सन् 1985 ई0 में पहली बार प्रकाशित हुई। डायरी एक सशक्त विधा है, जिस पर नियमित रूप से कार्य करना पड़ता है, परन्तु राकेश जी का स्वतंत्र स्वभाव होनें के कारण बीच–बीच में छूट गया है, यह अनियमितता लगभग देखनें को मिलती है।

अनुवाद साहित्य

राकेश जी का हिन्दी के अतिरिक्त दो अन्य भाषाओं संस्कृत एवं अंग्रेजी पर भी अधिकार था। इन्होंने अन्य भाषा की कई कृतियों का हिन्दी भाषा में अनुवाद किया है, जो इस प्रकार हैं–'शूद्रक' की रचना 'मृच्छकटिकम्' का 1961 में 'मिट्टी की गाड़ी नाम से, 'कालिदास द्वारा रचित 'अभिज्ञानशाकुन्तलम' नाटक का रूपान्तरण 'शाकुन्तल' नाम से 1964 में किया, महाकवि भास द्वारा प्रणीत नाटक 'स्वप्नवासवद्त्तम्' का अनुवाद 'स्वप्नवासवदत्ता' नाम से 1974 में किया था। अंग्रेजी साहित्य से भी हिन्दी में अनुवाद किया है। प्रसिद्ध उपन्यासकार 'हेनरी जेम्स' की 'दि पोट्रेट ऑफ ए लेडी' का हिन्दी अनुवाद 'एक औरत का चेहरा' नाम से किया है, इसके अतिरिक्त 'हिरोशिमा के फूल', 'एदिता मारिस' आदि कृतियों का भी अनुवाद किया है।

बाल सहित्य

राकेश जी का एक कहानी संग्रह 'बिना हॉड–मांस के आदमी' 1974 में प्रकाशित होता है, जिसमें चार कहानियाँ संग्रहित हैं–इन कहानियों के नाम इस प्रकार से हैं–'कॉंटेदार आदमी','कालाबन्दर', 'लाल अमरूद का पेड़', 'गिरगिट का सपना', 'सुनहरा मुर्गा', 'बिना हॉड–मांस का आदमी'। ये

कहानियाँ मूलतः बच्चों के मनोरंजन के लिए लिखी गई थी, जिसमें मनोरंजन के साथ उपदेश देना प्रस्तुत कहानियों का मूल उद्देश्य रहा है।

शोधकार्य

नेहरू फैलोशिप के अन्तर्गत राकेश जी 'नाटक में सही शब्द की खोज' को लेकर शोधकार्य कर रहे थें, परन्तु आकस्मिक निधन के कारण यह पूर्ण नहीं हो पाया। इस शोध कार्य के लिए राकेश जी कई बार विदेश गए और प्रस्तुत साहित्य का गहन अध्ययन एवं विश्लेषण भी किया। अतः यह अनुमान लगाया जा सकता है कि यदि यह शोधकार्य पूर्ण हो जाता तो निश्चय ही 'नाट्य शब्द' को लेकर एक नवीन दृष्टिकोण देखनें को मिलता।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. राकेश, मोहन, मोहन राकेश की डायरी, राजपाल एण्ड सन्ज प्रकाशन, संस्करण 2017, पृ0सं0 8।
2. वही, पृ0सं0 8।
3. तनेजा, जयदेव, आधुनिक भारतीय नाट्य विमर्श, राधाकृष्ण प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड, संस्करण 2015, पृ0सं0 102।
4. तनेजा, जयेदव, मेरे साक्षात्कार–मोहन राकेश, किताब घर प्रकाशन, संस्करण 2011, पृ0सं0 18।
5. तेनजा, जयदेव, मेरे साक्षात्कार–मोहन राकेश, किताब घर प्रकाशन, संस्करण 2011, पृ0सं0 136।
6. चतुर्वेदी, डॉ0 शोभा, चरित्र निरूपण और मोहन राकेश, आकाश पब्लिशर्स एण्ड डिस्ट्रीब्यूटर्स, प्रथम संस्करण 2014, पृ0सं0 78।
7. तेनजा, जयेदव, मेरे साक्षात्कार–मोहन राकेश, किताब घर प्रकाशन, संस्करण 2011, पृ0सं0 26।
8. वही, पृष्ठ सं0 27।
9. वही, पृष्ठ सं0 31।
10. वही, पृष्ठ सं0 32।
11. वही, पृष्ठ सं0 32।
12. वही, पृष्ठ सं0 32।
13. वही, पृष्ठ सं0 138।
14. चतुर्वेदी, डॉ0 शोभा, चरित्र निरूपण और मोहन राकेश, आकाश पब्लिशर्स एण्ड डिस्ट्रीब्यूटर्स, प्रथम संस्करण 2014, पृ0सं0 44।

15. तेनजा, जयदेव, मेरे साक्षात्कार–मोहन राकेश, किताबघर प्रकाशन, संस्करण 2011, पृ0सं0 139।
16. वही, पृष्ठ सं0 138।
17. वही, पृष्ठ सं0 137।
18. वही, पृष्ठ सं0 139।
19. वही, पृष्ठ सं0 138।
20. राकेश, मोहन, मोहन राकेश की डायरी, राजपाल एण्ड सन्ज प्रकाशन, संस्करण 2017, पृ0सं0 13।
21. वही, पृष्ठ सं0 14।
22. वही, पृष्ठ सं0 14।
23. वही, पृष्ठ सं0 17।
24. चतुर्वेदी, डॉ0 शोभा, चरित्र निरूपण और मोहन राकेश, आकाश पब्लिशर्स डिस्ट्रीब्यूटर्स, प्रथम संस्करण 2014, पृ0सं0 74।
25. वही, पृष्ठ सं0 86।
26. वही, पृष्ठ सं0 74।
27. राकेश, मोहन, मोहन राकेश की डायरी, राजपाल एण्ड सन्ज प्रकाशन, संस्करण 2017, पृष्ठ सं0 2821।
28. जैन, नेमिचन्द्र, मोहन राकेश के सम्पूर्ण नाटक, राजकमल एण्ड सन्ज प्रकाशन, संस्करण 2019, पृ0सं0 5।
29. वही, पृष्ठ सं0 7।
30. राकेश, मोहन, लहरों के राजहंस, राजकमल पेपरबैक्स, संस्करण 2020, पृ0सं0 9।
31. ठाकुर गुप्ता, डॉ0 आभा, समय के निकष पर मोहन राकेश का रंगकर्म, विश्वविद्यालय प्रकाशन, प्रथम संस्करण 2008, पृष्ठ सं0 35।

32. चतुर्वेदी, डॉ0 शोभा, चरित्र निरूपण और मोहन राकेश, आकाश पब्लिशर्स एण्ड डिस्ट्रीब्यूटर्स, प्रथम संस्करण 2014, पृ0 सं0 119।
33. राकेश, मोहन, मोहन राकेश की डायरी, राजपाल एण्ड सन्ज प्रकाशन, संस्करण 2017, पृ0 सं0 25।

द्वितीय अध्याय : स्त्री चेतना का तात्पर्य

(1) स्त्री चेतना का तात्पर्य–

'स्त्री' शब्द नारी का ही पर्याय माना जाता है। 'स्त्री' में लज्जा, सेवा, श्रद्धा, समर्पण, कोमल, दयालुता, स्नेह तथा ममतामयी गुणों का समावेश स्वाभाविक रूप से होता है। 'चेतना' शब्द से तात्पर्य 'जागृति' से है। वह कोई भी जीवंत वस्तु जो चैतन्य, बुद्धि–ज्ञान, स्मृति आदि मनोवृत्तियों से संपृक्त होती है, चेतना कहलाती है। 'चेतना' आन्तरिक एवं बाह्य दो रूप में विद्यमान रहती है। इस प्रकार हम कह सकतें हैं कि उचित–अनुचित का ज्ञान ही चेतना है। विश्वकोश हिन्दी के अनुसार 'चेतना जीवधारियों में रहने वाला वह तत्व है, जो उन्हें निर्जीव पदार्थो से भिन्न बनाता है। दूसरे शब्दों में उसे मनुष्यों की जीवन–क्रियाओं को चलानें वाला तत्व कह सकतें हैं। चेतना स्वयं को और अपने आस–पास के वातावरण को समझनें तथा उसकी बातों का मूल्यांकन करने की शक्ति का नाम है। 'स्त्री चेतना' से तात्पर्य उन स्थितियों से है, जहाँ पर वह शिक्षित, सुसांस्कृतिक, देश, घर–परिवार, समाज में अपने कर्तव्यों के प्रति सजग हो जाये और अपने अस्तित्व का बोध कर सकें। राष्ट्र तथा समस्त विश्व में सहबन्धुत्व की भावना को भलीभाँति समझ सकें, आधुनिक समाज में पथ भ्रष्ट न होकर बल्कि सामंजस्य बैठाते हुए, भारतीय परम्परा एवं संस्कृति का अनुकरण करते हुए, अपने एवं पारिवारिक जीवन को सुखमय और वृद्धि के स्तर पर ला सकें। अपने बच्चों का उचित पालन–पोषण एवं योग्य शिक्षा प्रदान कर सकें। आर्थिक सुविधा में पति की सहगामिनी बनकर स्वस्थ समाज एवं परिवार का निर्माण कर सकें इत्यादि आयामों को देखते हुए स्त्री का चेतनशील होना अतिआवश्यक है। स्वतन्त्रता पश्चात् स्त्री शिक्षा पर जोर

दिया गया, परन्तु अभी ग्रामीण स्त्रियाँ अर्द्ध शिक्षित अवस्था में हैं, जो अपने अधिकारों के प्रति जूझ रही हैं। इस सन्दर्भ में रंभागौरी गाँधी जी0ए0 का कथन है–''अब भी कुछ बहने अर्द्ध जाग्रत तथा अर्द्ध निद्रितावस्था में हैं। वे अपने ऊपर होने वाले अत्याचार को समझती है, अपनी हीनावस्था का कारण जानती है तथा उन्हें अपने स्वमान का आभास मिला है, परन्तु वे अपनी उन्नति के उपाय नहीं सोच सकती। उन्हें समाज के बन्धन व्यावहारिक अड़चने, संकुचित मनोवृत्ति, रूढ़ि मजबूत जंजीरे और भीरूता आगे आने से रोकती है। वे जागती है और फिर सो जाती है। वे सो भी नहीं सकती जाग्रत भी नहीं हो सकती। इन बहनों के हृदय में भावनाओं का मन्थन हो रहा है। एक दिन वे भी झूठें बन्धनों थोथी प्रणालियों को तोड़कर बाहर आएंगी और अपने सच्चे स्त्री सम्मानित मार्ग को ग्रहण करेंगी।''[1]

स्त्री अपनी अस्मिता की तलाश में तत्पर है, वह अपने स्वयं के अधिकार से लेकर समाज, देश, धर्म, परम्परा, संस्कृति इत्यादि सभी भागो में अपना सक्रिय योगदान देना चाहती हैं, वह अब चिर वन्दनी बन कर नहीं रहना चाहती है।

स्त्रियाँ अब जागरूक हो रही हैं और सन् 1947 के पश्चात् स्त्रियों की सहभागिता कई क्षेत्रों में बढ़ी है जैसे–साहित्य, कला, विज्ञान, चिकित्सा आदि। लेकिन समाज में स्त्रियों को आज भी सम्मान पुरुषों की भाँति प्राप्त नहीं है। यदि हम प्राचीन काल में स्त्रियों की चेतना को ज्ञात करना चाहे तो, इस युग में स्त्रियों को स्वतन्त्रता प्राप्त थी। बालक–बालिका में कोई भेद नहीं था, जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में सुअवसर प्राप्त और सुलभ थे। 'इन्द्रनाथ आनन्द' जी ने अपने एक लेख में लिखा है–''पुत्री के रूप में वह पुत्र के समान ही प्रिय, युवती के रूप में वह युवक के समान ही स्वतन्त्र,

पत्नी के रूप में वह पति के समान ही अधिकार रखने वाली गृह स्वामिनी और माता के रूप में वह पिता से भी अधिक पूज्य थी।''[2]

शिक्षा, धर्म में उसे समान अधिकार प्राप्त थे, वेद मन्त्रों का उच्चारण कर सकती थी, अनुष्ठान आदि कार्यो में कोई हस्तक्षेप करने वाला नहीं था। शिक्षा के क्षेत्र में मंत्रदृष्टा नारियों को विशेष सम्मान प्राप्त था। कन्या जन्म पर वर्तमान की भाँति शोक नहीं मनाया जाता था। स्वतन्त्र वर चुनने की प्रथा थी, पर विवाह अनिवार्य ही है, यह आवश्यक नहीं था। एक पुरुष एक ही पत्नी रखता था, क्योंकि वह इसे जन्म–जन्मान्तर का साथ या विधाता का संयोग मानतें थें। बहुविवाह का प्रचलन बिल्कुल नहीं था, पत्नियाँ पतिव्रत धर्म का पालन करती थीं, विधवा विवाह मान्य था, सती प्रथा जैसी कोई कुप्रथा नहीं थी। विवाह विच्छेद का कही कोई विधान नहीं मिलता है। माता का स्थान सर्वोच्च था, वह सभी की पूजनीय थीं। स्त्रियों को सम्पत्ति पर अधिकार और स्वतन्त्र वातावरण पर वर्चस्व था। सम्बन्धों में कोई कलह–विद्वेष नहीं था। इस युग में स्त्रियों की चेतना स्वनिर्भर थी, परन्तु धीरे–धीरे सारे सत्गुण–अवगुण में बदलतें गयें और उनके विपरीत बन्धन बनतें गए। मध्ययुग आया मुगलों के आगमन से स्त्रियों की दशा दयनीय हो गयी। मुस्लिम संस्कृति के प्रसार से और 'पर्दा प्रथा' से स्त्रियों के अधिकारों का हनन प्रारम्भ हो गया। वेद, मंत्रो, उपनिषद्, पुराण, ब्राह्मण का अध्ययन भी कम हो गया। शिक्षा प्रायः पुरुष ही ग्रहण करने लगें और स्त्रियाँ इस अधिकार से वंचित होनें लगीं। शिक्षा के परिप्रेक्ष्य में 'नंदिता मिश्र' एक लेख में लिखती हैं–''उच्च शिक्षा हर्षवर्द्धन काल के बाद राजवंशो, तथा कतिपय शिष्ट और धनाढ्य परिवारों में ही कन्याओं को दी जाती थी। बाद में ऐसी शिक्षा प्राप्त करने वाली कन्याओं की संख्या भी

धीरे–धीरे कम होनें लगीं। साधारण परिवार की नारी के लिए शिक्षा की कोई व्यवस्था न रही।''[3]

कन्याओं का कम उम्र में ही विवाह कर दिया जाता था। स्वयंवर की प्रथा उच्च राजघरानों या कुलीन वर्ग में शेष रह गई थी। बहुविवाह की प्रथा प्रारम्भ हो गयी, सवर्णो में विधवा विवाह बन्द हो गए। धर्म परिवर्तन का बोलबाला हो गया, जबरदस्ती हिन्दू बालिकाओं को मुस्लिम बनाया जाता था, जिससे उनकी दशा अत्यन्त शोचनीय एवं विचारणीय हो गयी। पर्दा प्रथा का जोर–सोर से विकास हुआ और सती प्रथा प्रारम्भ हो गया। सम्पत्ति अधिकार पर भी प्रश्न चिन्ह लग गए, परन्तु इन अपवादों के पश्चात् भी कुछ स्त्रियों ने अपना दामन बचाएँ रखा। विदुषी एवं कवयित्रियों की परम्परा प्राचीन काल से ही चली आ रही थी, यह बात दूसरी है कि उनके नाम इतिहास में लोलुप रहे। इसमें कुछ स्त्रियाँ शासन भार भी सम्भाली और जिसमें कुछ वीरागंनाएँ भी थीं, स्त्रियों का सबसे निकृष्ट एवं दयनीय अवस्था मध्ययुग में ही थीं, इन्हें वासना की एक वस्तु समझा जाता था। मध्ययुग के बाद ब्रिटिश काल में स्त्रियाँ पुनः चेतनशील हुई और अंग्रेजी शिक्षा के प्रसार के कारण उनमें जागरूकता बढ़ी, नयें मूल्य एवं सम्बन्ध स्थापित हुए स्त्रियों के जीवन में एक नया मोड़ आया, अनेक कुप्रथाएँ समाप्त होनें लगीं जिससे स्त्रियों में एक नई चेतना जाग्रत हुई। राजा राममोहन राय, स्वामी दयानन्द सरस्वती जैसी महान विभूतियों ने स्त्री अत्याचार को समझा और अन्धविश्वास, सामाजिक कुरीतियाँ एवं रूढ़ियों को देश प्रगति का बाधक माना एवं इसके अंत के लिए शिक्षा का प्रचार–प्रसार जरूरी समझा। जिसके फलस्वरूप स्त्रियाँ शिक्षित होनें लगीं, अनेक कुप्रथाओं का अंत हुआ। स्त्रियाँ गाँधी जी के आन्दोलनों में स्पष्ट योगदान देनें लगीं। इन परिवर्तनों से आधुनिक युग में स्त्रियों की दशा में

एक क्रान्तिकारी परिवर्तन देखने को मिलता है, स्त्री अधिकार के लिए कानून का निर्माण हुआ और स्त्री–पुरुष को समान अधिकार मिले, इस विधानों से नारी परतन्त्रता कम हुई। परिवार और समाज में उनको सम्मानीय दृष्टि से देखने का अधिकार प्राप्त हुआ। यह दूसरी बात है कि देश में शिक्षा की उचित व्यवस्था न होनें के कारण ग्रामीण स्त्रियों को इससे वंचित रहना पड़ा, परन्तु वो समय अब ज्यादा दूर नहीं जिसमें स्त्रियाँ सम्पूर्ण रूप से आत्मनिर्भर एवं सुशिक्षित हो सकेंगी।

सामान्य रूप से विमर्श का अर्थ तर्क–वितर्क, चर्चा–परिचर्चा एवं वाद–विवाद आदि से लगाया जाता है। विमर्श शब्द दो शब्दों वि+मृश के योग से बना है जिसका अर्थ है विचार–विनिमय। भाषा के प्रसिद्ध विद्वान हरदेव बाहरी ने विमर्श शब्द अंग्रेजी के Consultation का समानार्थी माना है। विमर्श शब्द का तात्पर्य कई रूपों में समझ सकतें हैं जैसे– सोच विचार कर तथ्यों की वास्तविकता का पता लगाना, किसी विषय पर विचार–विवेचन करना, सोचना–समझना, गुण और दोषों की आलोचना करना, किसी विषय को जाँचना परखना एवं किसी व्यक्ति से परामर्श एवं सलाह लेना या देना। इस प्रकार विमर्श से आशय–जब कोई व्यक्ति किसी अन्य समूह में किसी विषय या उद्देश्य पर चर्चा–परिचर्चा करता है, तो उसे विमर्श कहा जाता है। दूसरे शब्दों में कह सकतें हैं कि जब कोई भी व्यक्ति गहन चिन्तन मनन करके किसी अन्य व्यक्ति से तर्क–वितर्क करता है, तो उसे भी विमर्श कह सकतें हैं।

विमर्श शब्द को परिभाषित करते हुए डॉ0 हरदेव बाहरी ने लिखा है कि–"विमर्श यानी समालोचना, परामर्श, परीक्षा, किसी बात पर अच्छी तरह विचार करना।"[4]

डॉ0 अर्जुन चव्हाण ने भी लिखा है कि "विमर्श शब्द मूलतः गहन सोच–विचार, विचार–विनियम तथा चिन्तन–मनन को द्योतित करता है अर्थात विमर्श से सीधा तात्पर्य सोच–विचार, विनिमय तथा विवेचना से है।"[5]

स्त्री विमर्श का सम्बन्ध विशेष रूप से रूढ़ हो चुकी मान्यताओं संस्कारों एवं परम्पराओं के प्रति मुक्ति का स्वर है। हमारा समाज पितृसत्तात्मक है, इसमें स्त्रियों का स्थान हमेशा दोयम दर्जे का रहा है और स्त्री विमर्श इसी अन्तर्दृष्टि को जानने के लिए प्रश्न चिह्न खड़ा करता है? आखिर ऐसा क्या है? जिसकी वजह से स्त्रियों की कोई पहचान नहीं है, क्यों अपनी अवस्था और समस्याओं के बारे में सोच नहीं सकती? आखिर क्यों? इतने समय से अनुशासित व नियन्त्रित रखी जाती रही हैं इत्यादि सवालों को जब स्त्रियों ने खड़ा किया, तो पितृसत्ता को गँवारा नहीं हुआ। स्त्री का स्वचिन्तन कभी भी पितृसत्तात्मक समाज को नहीं भाया। यही कारण है कि स्त्री पुरुषों पर प्रश्नचिन्ह खड़ा करती है और कहती हैं–केवल राष्ट्रीय स्वतन्त्रता के जाने ने तुम्हें कैसा मलिन, कैसा व्याकुल, कैसा दुःखी बना दिया है? फिर स्वयं सोचो जिसके शरीर की जिसकी आत्मा को जिसके हृदय की सारी स्वतन्त्रता लुट गई हो, उसका हार्दिक भाव आनन्दमय कैसे हो सकता है। और आगे पुनः पूछते हुए कहती हैं–तुम स्वयं सोचो। यदि तुम हमारे आश्रित होते, यदि तुम्हारी आत्मा, तुम्हारा शरीर, तुम्हारा हृदय हमारे अधीन होता, हम तुम्हारी स्वतन्त्रता की सारी सम्पत्ति को निर्दयता से लूट लेती, तो उस समय तुम्हारी दशा क्या होती? स्त्री और कुछ नहीं सिर्फ अपना स्वतन्त्र अस्तित्व चाहती है, वह अपना सारा जीवन सिर्फ सीमित दायरों तक ही नहीं कायम रखना चाहती है।

स्त्री विमर्श प्राचीनकाल से चली आ रही मौन परम्परा को अभिव्यक्ति देता है। स्थापित नैतिक मूल्यों एवं आचार संहिताओं को छिन्न–भिन्न करता है, जो स्त्री चेतना के अनुकूल ही है। वैसे तो स्त्री विमर्श हिन्दी साहित्य में 1960 से 70 के दशक में आया, जबकि यह पश्चिमी देशों में नारीवादी आन्दोलन के रूप में अभिव्यक्ति पा चुका था। स्त्री का स्वरूप निरन्तर बदलता रहा है। प्राचीनकाल में वेद, उपनिषद्, ब्राह्मण आदि ग्रन्थों से यह ज्ञात होता है कि इस युग में स्त्रियों को सम्मानजनक स्थिति प्राप्त थीं और जीवन के प्रत्येक पहलुओं पर पुरुष के बराबर ही अधिकार प्राप्त थें, पुत्र और पुत्री में कोई भेद नहीं था, पत्नी के रूप में वह पति के समान, माता के रूप में पिता से भी अधिक पूजनीय थीं। स्त्रियाँ धार्मिक अनुष्ठान आदि कार्यों में मिलकर भाग लेती थीं। वैदिक काल में सबसे ज्यादा सम्मान उन स्त्रियों का था, जो मन्त्रदृष्टा थीं। वैदिक मंत्र कोई साधारण काव्य रचनाएँ नहीं है, बल्कि आध्यात्मिक अनुभूतियों को अभिव्यक्त करने वाली रचनाएँ हैं इसका सम्बन्ध लौकिक और ब्रह्मविद्या दोनों से है। जिस तरह अंगिरा, अगस्त्य, वशिष्ठ आदि अनेक ऋषि हुए, तो उन्हीं के समान अपाला, इन्द्राणी, उर्वशी, घोषा, लोपामुद्रा, सावित्री एवं देवयानी इत्यादि ऋषिकाएँ भी हुई।

वैदिक युग में विद्या अध्ययन के दो रूप थे–अपरा अर्थात लौकिक विद्या, परा अर्थात् ब्रह्मविद्या। इन दोनों क्षेत्रों में स्त्रियाँ पुरुषों के समान पारगंत एवं विदुषी थीं। कहीं–कहीं ऐसा भी उल्लेख मिलता है कि स्त्रियों ने पुरुषों का मार्गदर्शन भी किया था। महाभारत काल तक यज्ञ करना और करवाना धार्मिक कार्य एवं सामाजिक दायित्व था। इस कार्य में स्त्रियाँ समान रूप से भाग लेती थीं और यहाँ तक कि फसल काटनें का यज्ञ एवं रूद्र यज्ञ सिर्फ स्त्रियाँ ही कर सकती थीं। ऐसे अवसरों पर विराट

शास्त्राज्ञ भी हुआ करते थें। इसमें स्त्रियाँ भाग लेती थी और अपनी विद्वता एवं प्रतिभा का प्रमाण समाज को प्रदान करती थीं।

वर्तमान की भाँति कन्या का जन्म अपशकुन नहीं माना जाता था। शिक्षा में वैदिक साहित्य के अतिरिक्त स्त्रियों एवं कन्याओं को वैद्यक, नृत्य, गणित, संगीत और शिल्प आदि की शिक्षा दी जाती थीं। क्षत्रिय कन्याएँ धनुर्विद्या में पारगंत थीं, यही नहीं वे सेना में भी भर्ती होती थीं, युद्ध में अपने पति के साथ सारथी का कार्य करती थीं और शत्रुओं को परास्त करने में उनका सहयोग करती थीं।

वैदिक युग से ही विवाह एक धार्मिक और पवित्र संस्कार माना जाता है। प्रारम्भ में विवाह अनिवार्य नहीं था, स्त्रियों को वर चुनने की स्वतन्त्रता थीं, परन्तु ऋग्वेद काल के बाद कन्याओं का विवाह माता–पिता के संरक्षण में होने लगा, ज्यादातर विवाह अपने ही वर्ण में होते थे, परन्तु अनुलोम विवाह करने की भी कोई आपत्ति नहीं थीं लेकिन बहुविवाह प्रायः उच्च राजघरानों एवं कुलों तक ही सीमित थी, सपत्नी कलह हमेशा होती थीं। कृष्णदत्त पालीवाल ने 'नारी विमर्श की भारतीय परम्परा' में उल्लेख किया है–"सपत्नी का नाश और पति का प्रेम प्राप्त कराने वाली यह औषधि मैंने धरती से उखाड़ ली है..... हे! औषधि, तू मेरी सपत्नी का नाश कर और मेरे पति को मेरे वश में कर दे।"[6] वैदिक काल में बहुपति प्रथा का कहीं कोई उल्लेख नहीं मिलता है– "यद्यपि एक पति की अनेक पत्नियाँ हो सकती हैं, एक नारी के एक ही समय में अनेक पति नहीं हो सकतें।"[7]

प्राचीन काल में पति–पत्नी को समान अवसर प्राप्त थे। वास्तव में पति–पत्नी को एक तत्व के दो समान अंश के रूप में माना जाता था।

पत्नियाँ पतिधर्म का पालन करती थीं उन्हें देवता या प्राणनाथ के समान मानती थीं। यदि कन्या विधवा हो जाती थी, तो उन्हें विधवा विवाह करने का अधिकार प्राप्त था। सती प्रथा का अभाव था। रामायण काल से लेकर महाभारत काल तक सती प्रथा का कहीं कोई उल्लेख नहीं मिलता है। आर्य लोग विवाह सम्बन्ध को जन्म जन्मान्तर का अटूट रिश्ता मानते थे। एक बार जिस पत्नी से विवाह हो जाता था, तो पुनः विवाह विच्छेद नहीं होता था। माता का पद परमपूजनीय था, स्त्रियों को सम्पत्ति के उपभोग का अधिकार था, परन्तु बेचने का नहीं लेकिन पुत्री, पत्नी, माता को विधवा के रूप में सम्पत्ति पर आधा अधिकार प्राप्त था।

वैदिक काल में स्त्रियों को स्वतन्त्रता प्राप्त थीं वह घर की चारदीवारी में कैद नहीं रहना चाहती थी, वह पुरुषों के साथ उत्सवों, सभा सम्मेलनों, यज्ञों में, यहाँ तक कि युद्धों में भी भाग लेती थीं। महाभारत काल के बाद कई कारणों से नारी के अधिकारों का धीरे–धीरे हनन होनें लगा और समाज में स्त्रियों का गौरव घटता ही गया। इसी युग में जैन और बौद्ध धर्म का उदय होता है। हिन्दू समाज में जहाँ एक और ब्रह्मवादिनियों का धीरे–धीरे लोप होता गया, तो वहीं दूसरी ओर बौद्ध भिक्षुणियों का उद्‌भव भी हुआ।

महाभारत काल के पश्चात् हर्षवर्द्धन के शासनकाल तक स्त्रियों की स्थिति मध्य थी, परन्तु मुगलों के आक्रमण और उनके आधिपत्य एवं उनकी संस्कृति के प्रसार ने विशेषतः पर्दाप्रथा ने नारी की स्थिति में कुठाराघात किया। एक तरफ इस पर्दाप्रथा का प्रचलन जोर–शोर से बढ़नें लगा तो दूसरी ओर राजपूत एवं मराठा वीरांगनाओं ने मुगल शासकों से भिड़कर यह सिद्ध कर दिया कि भारतीय नारी आत्मबल एवं देश प्रेम में पुरुषों से कम नहीं हैं। कुछ राजवशों की स्त्रियों ने शासन भार सम्भाल कर अपनी

कर्मठता का परिचय दिया। यद्यपि इस युग में वैदिक कर्मों के स्थान पर पौराणिक कर्मों का जन्म हुआ। भक्ति विभिन्न सम्प्रदायों में बट गयी, परन्तु भक्ति के आध्यात्मिक प्रचार से नारी को बल मिला, जिससे वे विकास की एक नई दिशा पकड़ सकी। इस काल का सबसे बड़ा दोष यह रहा है कि शिक्षा सभी स्त्रियाँ नहीं ग्रहण कर सकी फिर भी जिन घरों में शिक्षा का क्रम चलता रहा, उनमें संस्कृत, प्राकृत और प्रादेशिक भाषाओं में स्त्रियाँ विदुषी एवं कवयित्री भी हुई। शिक्षा धनाढ़य परिवारों में ही मिलने के कारण शिक्षित स्त्रियाँ बहुत कम रह गई, क्योंकि साधारण परिवार की स्त्रियों के लिए शिक्षा की कोई व्यवस्था ही नहीं थी। इसी अशिक्षा के कारण कन्याओं का विवाह आठ या नौ वर्ष की अवस्था में हो जाता था, किन्तु बढ़ती हुई घोर अशिक्षा के कारण कन्याओं का विवाह चार या पाँच वर्ष की अवस्था में भी होनें लगा और दहेज प्रथा का प्रचार भी धीरे–धीरे बढनें लगा, जिसे साधारण माता–पिता के लिए विवाह एक कठिन कार्य हो गया। स्वयंवर की प्रथा कुछ ही राजघरानों तक सीमित रह गई। धीरे–धीरे विधवाओं का पुनर्विवाह भी बन्द हो गया लेकिन विधुरों के पुनर्विवाह पर कोई रोक नहीं लगाई गई। इस काल में धर्म परिवर्तन भी होनें लगा था। मुसलमान जबरदस्ती हिन्दू स्त्रियों को मुसलमान बना लेते थे, जिससे उनकी दशा अत्यन्त शोचनीय हो गई, ऐसा होनें पर प्रारम्भ में स्त्रियों को पवित्र कर उन्हें फिर से हिन्दू बनाया जाता था, परन्तु कुछ समय पश्चात् यह उदार दृष्टि भी त्याग दी गई। ऐसी स्थिति में उन्हें पुनः वही स्थान समाज में नहीं मिला, जिससे उन स्त्रियों को उन्हीं अपहरण कर्ताओं के यहाँ ही जीवन व्यतीत करना पड़ता था।

तेरहवीं शताब्दी तक मुसलमानों ने हिन्दू संस्कृति पर जब पैर जमाना शुरू किया तो उसमें सबसे ज्यादा प्रभाव उत्तर भारत में पर्दाप्रथा

का पड़ा और इस प्रथा का शासन इतना कड़ा हो गया कि ससुर अपनी पुत्रवधू को जीवन भर देख ही नहीं पाता था। किन्तु इस प्रथा का प्रभाव कुछ राजवंशों पर नहीं था, जिससे वहाँ कि स्त्रियाँ नृत्य, संगीत, कला आदि का प्रदर्शन कर सकती थीं। मध्ययुग में कुलीन वंशों में सतीप्रथा का प्रचलन प्रारम्भ हो गया था। यह दूसरी बात थी कि इस प्रथा का प्रभाव दक्षिण भारत पर कम पड़ा। धार्मिक कार्यकर्ता विधवा विवाह को अनुमति ही नहीं दे रहे थे, किन्तु कुछ समय पश्चात् महाराष्ट्र और पंजाब में विधवा विवाह प्रारम्भ हो गया। वैदिक काल की भाँति इस युग में स्त्री को सम्पत्ति पर पूर्ण अधिकार नहीं रह गया। 'अधिकांश स्मृतिकारों' ने यह व्यवस्था दी कि ''भाइयों को बहनों के विवाह के लिए पितृ सम्पत्ति में से पर्याप्त राशि अलग रख देनी चाहिए और यह राशि भाइयों के अंश के एक चौथाई भाग से कम नहीं होनी चाहिए।''[8] स्त्री धन का विस्तार करते हुए 'कृष्णदत्त पालीवाल' ने लिखा है कि–"आरम्भ में हिन्दू नारी के स्त्री धन के अन्तर्गत वही सम्पत्ति मानी जाती थी, जो उसे विवाह के अवसर पर दी जाती थी। 1000 ई. के लगभग विज्ञानेश्वर आदि टीकाकारों ने कहा कि नारी को किसी प्रकार से भी मिली सम्पत्ति स्त्री धन के अन्तर्गत मानी जानी चाहिए।"[9] यदि कोई ऐसी स्त्री विधवा हो जाती है, तो उसे सम्पत्ति में पूर्ण अधिकार है, ऐसा बंगाल के जीमूतवाहन ने भी समर्थन किया था।

इस युग में स्त्रियों की स्थिति दयनीय तो थी ही, परन्तु स्त्रियों ने अपनी विद्वता का प्रमाण दिया जिसमें कुछ कवयित्री और विदुषी भी थीं। यद्यपि बहुतों के नाम और उनके काव्य ग्रन्थ आदि लुप्त हो गए है, फिर भी कुछ के पद्य संस्कृत और प्राकृत के सुभाषित संग्रहों में सुरक्षित हैं। जहाँ एक ओर स्त्रियाँ दबी और कुचली हुई थीं वहीं दूसरी ओर वीरागंनाएँ और शासिकाएँ भी थी जो आवश्यकता पड़ने पर राजकाज सम्भाल लेती थीं एवं

युद्ध भी करती थीं। कुछ राज्य ऐसे भी थे, जहाँ पर वे विशेषतः उत्तराधिकारिणी होती थीं। जैसे–कश्मीर, उड़ीसा, तेलगू भाषी प्रदेश। इस युग में जहाँ एक ओर कुलीन स्त्रियाँ जो कि सक्षम थी, शिक्षित भी थी फिर भी उनका आन्तरिक शोषण होता था और जो आम स्त्री थी उनका आन्तरिक और बाह्य दोनों रूपों में शोषण होता था। क्योंकि न तो वे शिक्षित थी और न ही आर्थिक रूप से सम्पन्न। सतीप्रथा इतना हावी था कि इन स्त्रियों को इस आडम्बर से निकालना कठिन था लेकिन ब्रिटिशकाल में जब अंग्रेजों का आगमन हुआ तो भारत की शिक्षा नीति से लेकर सभी सामाजिक बन्धनों एवं रीतिरिवाजों पर एक गहरी चोट आयी। यह सत्य है कि ब्रिटिश शासन की स्थापना से अनेक हानियाँ हुयी, परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि पाश्चात्य विज्ञान, साहित्य और दर्शन के सम्पर्क से अन्धविश्वासों और रूढ़ियों से छुटकारा भी मिला। जिससे नारी जो कि सदियों से कुण्ठित थी, उसकी स्थिति में सुधार आया जबकि अंग्रेजों के आगमन के पूर्व भारत में स्त्री शिक्षा की कोई स्थायी या सार्वजनिक व्यवस्था का प्रबन्ध नहीं था। गिने चुने सम्पन्न परिवारों की लड़कियाँ ही शिक्षित हो पाती थीं।

मुगलकाल में पुराने ढ़ंग के जो संस्कृत या अरबी–फारसी पाठशालाएँ एवं मकतबे थे, उनमें लड़कों को ही शिक्षा दी जाती थी। लेकिन अंग्रेजों ने शिक्षा एवं शासन व्यवस्था को ढृढ़ किया जिससे कलकत्ता, मद्रास जैसी संस्थाएँ खुल पायी। विशेष रूप से अंग्रेजी शिक्षा को बढ़ावा मिला और कुछ अलग से स्त्री शिक्षा के लिए स्कूल खोले गए। इस प्रकार भारतीय समाज सुधारकों और अंग्रेज अधिकारियों के अथक प्रयासों से स्त्री शिक्षा का विरोध कम हुआ और नवीन ढ़ंग की प्राइमरी, हाईस्कूल एवं कॉलेज की पढ़ाई स्त्रियों के लिए उपयोगी समझी जानें

लगीं। शिक्षा प्राप्त स्त्रियों को अध्यापन से डॉक्टरी आदि क्षेत्रों में आजीविका के साधन मिलनें लगें, जिससे उनकी आर्थिक पारिवारिक एवं सामाजिक स्थिति में परिवर्तन आया। एक तरफ नवीन शिक्षा का प्रचार–प्रसार था, तो दूसरी तरफ भारतीय समाज में अनेक कुरीतियाँ भी अपनी जड़े जमाएँ हुयी थीं। ये कुरीतियाँ एवं रूढ़ियाँ इतना प्रभावी थीं कि स्त्री इसके विपरीत कदम उठाने का साहस ही नहीं कर पाती थीं। किन्तु राजा राममोहन राय, केशवचन्द्र सेन, दयानन्द सरस्वती आदि समाज सुधारकों के प्रयासों से एक नवीन बदलाव आया। राजाराममोहन राय के अथक प्रयासों से सतीप्रथा का अन्त हुआ। ऐसा नहीं था कि इसके पूर्व इस प्रथा का विरोध नहीं किया गया था, बल्कि अकबर से लेकर अनेक समाज सुधारकों ने प्रयास किया, परन्तु भारत के गवर्नर विलियम बैंटिक ने सतीप्रथा को कानून विरूद्ध एवं दण्डनीय अपराध घोषित कर दिया, जिससे इस प्रथा को खत्म करने को एक बल मिला। इस प्रथा का अन्त कर दिए जाने के पश्चात् कुछ विचारकों का ध्यान विधवा–विवाह पर गया। इस सम्बन्ध में आवाज उठाने में ईश्वरचन्द्र विद्यासागर का नाम सर्वोपरि है, जिनके प्रयासों से सरकार ने 1856 में विधवा पुनर्विवाह कानून पास किया जिसके कारण विधवा विवाह वैद्य माना जानें लगा।

केशवचन्द्र के प्रयासों से बालविवाह का भी अन्त हुआ और 1872 में सरकार ने एक कानून पास किया। फिर भी विधवा–विवाह एवं बालविवाह के विषय में बहुत अरुचि एवं विरोध की भावना पनपी, परन्तु आर्य समाज, प्रार्थना एवं ब्रह्मसमाज आदि संगठनों ने इसका पक्ष लिया। इसके पश्चात् स्त्रियाँ स्वतन्त्रता संग्राम से लेकर गाँधी जी के असहयोग, दांडी और सविनय अवज्ञा आन्दोलन जैसे राजनीतिक दलों में भाग लेनें लगीं। विदेशी वस्त्रों का बहिष्कार करती और जेल यात्राएँ भी। इससे स्त्रियों में

जागरूकता बढ़नें लगी, वे अनेक महिला सम्मेलन एवं संस्थाएँ स्थापित कर स्त्रियों को जागरूक करती, जिसके फलस्वरूप कुछ राजनीतिक अधिकार भी मिलें। कुछ विदुषी एवं कवयित्रियों ने भी सामाजिक जागरूकता में अपना सफल योगदान दिया। आधुनिक काल में स्त्रियों को कई अधिकार प्राप्त हो चुके थे। स्वतन्त्रता के पश्चात् भारतीय नारी में क्रांतिकारी परिवर्तन हुए जिसके मुख्य दो कारण मान सकतें हैं, पहला यह कि भारतीय संविधान में स्त्री और पुरुषों की समानता का अधिकार, दूसरा यह कि हिन्दू धर्म में विवाह और विवाह विच्छेद एवं उत्तराधिकार के विषय में विधि पास करके स्त्री के साथ सदियों से होनें वाले सामाजिक और आर्थिक असमानता का अन्त कर दिया। इसमें संदेह नहीं कि देश में शिक्षा की पर्याप्त व्यवस्था न होने के कारण अधिकांश स्त्रियाँ अशिक्षित हैं। जिसके कारण वे सामाजिक और राजनीतिक व्यवस्थाओं का पूरा लाभ नहीं ले पा रही हैं, फिर भी आज शिक्षित महिलाओं की कमी नहीं है, वो अध्यापिका, डॉक्टर, इंजीनियर, क्लर्क, वकील, जज, मजिस्ट्रेट इत्यादि क्षेत्रों में बड़ी कुशलता से कार्य कर रहीं हैं। वे परिवार को तो सम्भालती ही हैं साथ में अन्य कार्य भी करती हैं। कई अधिनियम पारित होने के पश्चात् नारी शोषण का अंत हो रहा है और वे आत्मनिर्भर बन रहीं हैं, शिक्षा एवं शिक्षा पर आधारित रोजगार कर रहीं हैं, केन्द्रीय सेवाओं का लाभ उठा रहीं हैं, कला, नाट्यकला, पत्रकारिता और प्रसारण क्षेत्र से लेकर राजनीतिक क्षेत्र में बराबर हिस्सा एवं योगदान दें रहीं हैं।

सन्दर्भ ग्रन्थ–सूची

1. गर्ग, डॉ0 संजय, स्त्री विमर्श का कालजयी इतिहास, सामयिक प्रकाशन, संस्करण 2014, पृ0सं0 85।
2. पालीवाल, कृष्णदत्त, नारी–विमर्श की भारतीय परम्परा, सस्ता साहित्य मण्डल प्रकाशन, प्रथम संस्करण 2014, पृ0सं0 123।
3. वही, पृ0सं0 158।
4. बाहरी, डॉ0 हरदेव, हिन्दी शब्दकोश, राजपाल एण्ड सन्ज प्रकाशन, पृ0सं0 75।
5. वसु, डॉ0 नगेन्द्रनाथ, हिन्दी विश्वकोश (खण्ड–21), पृ0सं0 478।
6. पालीवाल, कृष्णदत्त, नारी विमर्श की भारतीय परम्परा, सस्ता साहित्य मण्डल प्रकाशन, प्रथम संस्करण 2014, पृ0सं0 134।
7. पालीवाल, कृष्णदत्त, नारी विमर्श की भारतीय परम्परा, सस्ता साहित्य मण्डल प्रकाशन, प्रथम संस्करण 2014, पृ0सं0 134।
8. वही, पृष्ठ सं0 161।
9. वही, पृष्ठ सं0 161।

तृतीय अध्याय–मोहन राकेश के नाटकों में स्त्री चेतना के विविध आयाम

(1) विवाह संस्था एवं पुरुष के प्रति पारम्परिक दृष्टिकोण–

भारतीय परम्परा में सामाजिक सम्बन्धों को व्यवस्थित करने के लिए 'विवाह' नामक संस्था का पालन किया जाता है। विश्व में जिस समाज में जैसी सामाजिक और पारम्परिक धारणाएँ होती हैं, उसी धारणाओं के अनुरूप विवाह का स्वरूप भी विकसित होता है। हिन्दू धर्म में विवाह को सर्वाधिक महत्व दिया गया है। 'विवाह' शब्द दो शब्दों से मिलकर बना है–वि+वाह जिसका शाब्दिक अर्थ होता है–'वधू को वर के घर ले आना'। इसीलिए विवाह एक ऐसी सामाजिक मान्यता बन गई, जहाँ स्त्री और पुरुष वैधता के साथ 'एक साथ' रहकर सांसारिक क्रियाओं का नियमन कर सकें। विवाह एक मौलिक एवं सार्वभौमिक संस्था है, जहाँ दो विषमलिंगी सम्बन्ध स्थापित करते हैं और ये सम्बन्ध स्थायी होते हैं, उससे उत्पन्न बच्चों का उचित पालन–पोषण कर सामाजिक वैधता प्रदान की जाती है। धर्म ग्रन्थों में विवाह के आठ प्रकार बताए गए हैं, जो इस प्रकार हैं–ब्रह्म विवाह, देव विवाह, आर्ष विवाह, प्रजापत्य विवाह, असुर विवाह, गन्धर्व विवाह, राक्षस और पिशाच विवाह। इनमें ब्रह्म विवाह को हिन्दू धर्म में अधिक मान्यता प्रदान की जाती है। हिन्दू समाज में प्राचीन काल से ही एक पत्नी से विवाह करने की परम्परा रही है, जो आज भी विद्यमान है। मध्ययुग में बहु पत्नी विवाह की एक प्रथा बन गयी, जिससे स्त्रियों की दशा दिन–प्रतिदिन दयनीय हो गयी थी, जिसको जागरूक सामाजिक पुरुषों ने पहचाना और उसका विरोध कर उन मान्यताओं का खण्डन किया। भारतीय समाज में स्त्रियों की पूजा की गई, उनको 'माता' शब्द से

सम्बोधित कर पवित्र एवं सम्मानीय दृष्टि से देखा गया, तो दूसरी तरफ उन पर अत्याचार भी बहुत हुए। उनको चारदीवारी में बन्द रखा गया, तो स्वतन्त्र भी। रक्षा की भावना को अपनाते हुए भी उनमें असुरक्षा का भय पैदा किया गया। सारे नियम, धर्म, कानून, नीतियाँ पुरुषों के ही अधिकार में बनाए गए, उन्हें घर के ही अन्दर रहने के लिए मजबूर किया गया। यदि दुर्भाग्यवश पति मृत्यु को प्राप्त हो जाता है, रूग्ढ़ या किसी विकार से पीड़ित है, तो पत्नी दूसरा विवाह नहीं करती, बल्कि उसी को नियति का आधार मानकर जीती हैं। वहीं पुरुष यदि स्त्री किसी विकार से पीड़ित है, या नहीं भी है, तो भी वह अपनी इच्छा पूर्ति के लिए दूसरा विवाह कर सकता है। पुरुष सत्ता की इस बर्बरता का समाधान देते हुए डॉ0 संजय गर्ग लिखतें हैं–''जिस प्रकार एक पति के रहते कोई स्त्री, किसी समय समाज में दूसरा पति नहीं कर सकती, उसी प्रकार किसी पुरुष को भी एक पत्नी के रहते दूसरा विवाह नहीं करना चाहिए। विशेषकर हिन्दू समाज में जहाँ उच्च वर्गो की बाल विधाओं को भी पुनः विवाह करने की अनुमति नहीं है, वहीं एक पुरुष बहु विवाह करे यह उचित नहीं है। यह प्रथा बुरी है और इसे रोकी जानी चाहिए।''[4]

हमारे समाज में विवाह सम्बन्धी मान्यताएँ इतनी गहरी जड़ें जमाएँ हुए हैं कि स्त्री उसके विपरीत कदम उठाने को कतराती है। मोहन राकेश ने अपने नाटकों में प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष रूप से वैवाहिक सम्बन्धों को स्थापित किया है। 'आषाढ़ का एक दिन' की अम्बिका का पति जिसकी मृत्यु महामारी में हो जाती है, फिर भी अम्बिका पुनर्विवाह न करके वैवाहिक सम्बन्धों की सामाजिक परम्परा का ही निर्वाहन करती है। वह पति के जीवन को ही आधार मानकर जीना चाहती है और अन्य स्त्रियों की भाँति वैधव्य जीवन को स्वीकार करती है। लेकिन परपुरुष से पुनः

विवाह नहीं करना चाहती है। अम्बिका एक तरफ सामाजिक धारणाओं का निर्वाहन करती है, तो दूसरी ओर आधुनिक नारी की भाँति आत्मनिर्भर बनती है, वह अपनी पुत्री का भरण–पोषण स्वयं करती है। इससे यह प्रतीत होता है कि अम्बिका अनेक कष्टों को सहते हुए भी विचलित नहीं होती, बल्कि पुरुष के प्रति पारम्परिक दृष्टिकोण का ही पालन करती है। राजदुहिता प्रियंगुमंजरी का विवाह राजकवि कालिदास के साथ सम्पन्न होता है, चूँकि कालिदास मल्लिका से प्रेम करता है, उसे ग्रामीण जीवन भाँता है, इसलिए राजमहल में वह अव्यवस्थित रहता है, जिससे प्रियंगुमंजरी को यह डर रहता है कि कहीं उसका वैवाहिक जीवन टूट न जाए, वह बिगड़ते हुए सम्बन्ध को समेटना चाहती है। इसीलिए वह ग्राम प्रान्त जाती है और उन सभी तत्वों का अन्वेषण करती है, जो उसके पति को शान्ति दे सकें एवं मल्लिका को अपने राज दरबार के किसी योग्य सैनिक से विवाह कराने का प्रस्ताव रखती हैं और कहती है–

''प्रियंगुमंजरीः तुम उनमें से जिसे भी अपने योग्य समझों, उसी के साथ तुम्हारे विवाह का प्रबन्ध किया जा सकता है। दोनों योग्य अधिकारी हैं।''[5]

परन्तु मल्लिका स्वाभिमान के कारण मना कर देती है, ऐसा नहीं है कि मल्लिका वैवाहिक बन्धन में बंधना नहीं चाहती। वह कालिदास से प्रेम करती है और यह चाहती है कि विवाह प्रस्ताव कालिदास की ओर से आए, इसलिए वह पहले बेरोजगार कालिदास के भविष्य निर्माण पर जोर देती है और उसे प्रेरित कर उज्जयिनी भेजती है। उज्जयिनी जाने से पूर्व सभी ग्रामवासी यह चाहते है कि मल्लिका का विवाह हो जाए। विलोम अम्बिका से कहता भी है ''राज्य की ओर से उसका सम्मान होगा कालिदास राजकवि के रूप में उज्जयिनी में रहेगा। मैं समझता हूँ उसके जाने से पहले ही उसका और मल्लिका का विवाह हो जाना चाहिए।''[6]

परन्तु ऐसा नही होता है, मल्लिका दिन, महीना, साल कालिदास का इन्तजार करती है लेकिन माँ की मृत्यु के पश्चात् वह आर्थिक रूप से असहाय हो जाती है और न चाहते हुए भी वैवाहिक जीवन में बँधती है। वह अपने इस अभाव का जिक्र करते हुए कहती है–

''मल्लिका : इस जीव को देखते हो? पहचान सकतें हो? यह मल्लिका है जो धीर–धीरे बड़ी हो रही है और माँ के स्थान पर अब मैं उसकी देखभाल करती हूँ।....यह मेरे अभाव की सन्तान है। जो भाव तुम थे, वह दूसरा नहीं हो सका, परन्तु अभाव के कोष्ठ में किसी दूसरे की जानें कितनी–कितनी आकृतियाँ हैं। जानते हो मैंने अपना नाम खोकर एक विशेषण उपार्जित किया है और अब मैं अपनी दृष्टि में नाम नहीं, केवल 'विशेषण' हूँ।''[7]

एक तरफ जहाँ मल्लिका कालिदास के साथ विवाह करने के लिए अन्य पुरुषों का विरोध करती थी, तो वहीं विलोम के साथ विवाह हो जाने के बाद उसी कालिदास के साथ जाने को तैयार नहीं होती है। कालिदास के जाते समय वह अपनी पुत्री को वक्षस्थल से लगाकर वापस आ जाती है और कालिदास चला जाता है। यह भारतीय नारी का परम्परागत दृष्टिकोण ही है, जो उसे अपनी सीमा में रहने को मजबूर करता है। हमारे समाज में एक बार जिस पुरुष के साथ स्त्रियों का विवाह कर दिया जाता है, तो वह जीवन पर्यन्त अन्य पुरुष के साथ रहने को तैयार नहीं होती हैं, बल्कि उसी को जीवन का आधार मानकर जीती हैं। यह अम्बिका, मल्लिका, प्रियंगुमंजरी के माध्यम से मोहन राकेश ने स्पष्ट कर दिया है।

'लहरों के राजहंस' में लेखक ने मधुर वैवाहिक जीवन को उद्घाटित किया है। प्रस्तुत नाटक की नायिका सुन्दरी और नन्द पति–पत्नी हैं।

दोनों ही एक दूसरे से अत्यन्त अनुराग रखते हैं। सुन्दरी अपने वैवाहिक जीवन को सफल बनाने के लिए अनेक कामोत्सव एवं साज–सज्जा आदि बाह्य रूपों पर ध्यान देती है और नन्द भी उन सभी पहलुओं पर ध्यान देता है, जो सुन्दरी को प्रिय है। उसकी पत्नी का कामोत्सव सफल हो, इसीलिए स्वयं निमंत्रण देने जाता है। पत्नी दुःखी न हो इसके लिए नकारात्मक कारणों को हमेशा छुपा के रखता है। इसीलिए दोनों सुखी जीवन व्यतीत करते हैं। समाज, घर, परिवार में सामंजस्य स्त्री और पुरुष दोनों के सहयोग से ही बनता है, किसी एक के ठगमगानें से सुचारू जीवन नहीं जिया जा सकता। सुन्दरी को यह प्रतीत होता है कि नन्द उसके सौन्दर्यपाश में बंधा हुआ है और यह भी जानती है कि इसी कारण से उसका जीवन सुखी एवं सबसे भिन्न हैं। शायद यही कारण है कि वह 'यशोधरा' के वैवाहिक जीवन के उजड़नें का कारण सौन्दर्य ही मानती है इसीलिए 'अलका' से कहती है–

''सुन्दरी : नारी का आकर्षण पुरुष को पुरुष बनाता है, तो उसका अपकर्षण उसे गौतम बुद्ध बना देता है।''[8]

नाटक में 'गौतम बुद्ध' और 'यशोधरा' का चरित्र प्रसंगवंश ही हुआ है, फिर भी 'यशोधरा' अपने पति कल्याण में ही अपना जीवन सार्थक समझती है। 'बुद्ध' के जाने के पश्चात् 'यशोधरा' 'पुनर्विवाह' न करके पुत्र सहित 'बौद्ध धर्म' में दीक्षित हो जाती हैं। इससे यही प्रतीत होता है कि पुरुष तो अपनी पत्नी को छोड़ सकता है, परन्तु स्त्री कभी बीच में अकारण नहीं छोड़ती, बल्कि पुरुष परम्परागत मूल्यों को ही धारण करती है। अलका जो कि श्यामांग से प्रेम करती है, वह मानसिक रूप से विक्षिप्त अवस्था में है। अलका उसका उचित रख–रखाव रखती है और सेवा करती है। सुन्दरी जो कि स्वभाव से ही अह्मवादी है फिर भी पति के

साथ जीवन व्यतीत करने में ही स्त्री धर्म समझती है। वह आचरण से उग्रवादी अवश्य है, परन्तु वैवाहिक जीवन के पहलुओं का कभी उल्लंघन नहीं करती है। 'आधे–अधूरे' की सावित्री एक आत्मनिर्भर, आधुनिक और प्रगतिशील नारी है। उसका पति महेन्द्रनाथ व्यवसाय में असफलता मिलने के कारण बेरोजगार है, फिर भी वह परिवार चलाने के लिए नौकरी करती है। उसको अपने पति में अधूरापन, चिपचिपा एवं लिजलिजापन दिखता है, इसलिए वह पर पुरुषों के सम्पर्क में आती है लेकिन नाटक के अन्त में पुरुष चार (जुनेजा) से चलते लम्बे संवाद में उसका पति के प्रति प्रेम और चाहत की छटपटाहट दिखती है। वह जिम्मेदारी एवं पारिवारिक झंझटो से छुटकारा पाने के लिए घर छोड़ना चाहती है, तो जाते समय उसे ऐसा लगता है कि जैसे उसका कुछ छूट रहा है और वह विवश होकर भी महेन्द्रनाथ को छोड़ नहीं पाती है और अन्ततः पारिवारिक एवं वैवाहिक जीवन को स्वीकार कर लेती है। बड़ी लड़की बिन्नी भी मनोज के साथ सुखपूर्वक जीवन जीती है, परन्तु रिश्ते में आयी खट्ास के कारण वह उसे छोड़ना नहीं चाहती, बल्कि उन कारणों को जानना चाहती है, जो उसके पति को असन्तुष्ट करते हैं। 'पैरों तले की जमीन' की स्त्री पात्र भी अपने पति के लिए समर्पित हैं। सलमा का विवाह न चाहते हुए भी अयूब के साथ होता है, क्योंकि सलमा डॉ0 से प्रेम करती है, फिर भी विवाहोपरान्त उससे मिलना पसन्द नहीं करती। उसका पति उसके सामने ही रीता और नीता से अनैतिक सम्बन्ध बनाता है, परन्तु सलमा विवश होकर भी उसे छोड़ नहीं पाती है। अब्दुल्ला की पत्नी यह जानते हुए भी कि मुझे पुत्र प्राप्ति हेतु लाया गया है, फिर भी वह वंश वृद्धि में अपने आप को समर्पित करने में ही गौरव समझती है। स्त्री प्राचीन काल से ही पुरुष की समवृद्धि पर ध्यान देती आयी है, इसके लिए उसे त्याग, तपस्या, बलिदान,

आत्मोत्सर्ग करना पड़ता है, तो भी वह पीछे नहीं हटती है। शायद यही कारण है कि पुरुष सात्विक प्रवृत्ति की पत्नी को पाकर अपने आप को धन्य समझता है। पुरुष के दृष्टिकोण हमेशा से ही स्त्रियों से भिन्न रहे हैं, फिर भी उसकी परवाह न करके स्त्रियाँ विवाह सम्बन्धों को सफल बनानें में ही अपना जीवन सार्थक समझती है। मोहन राकेश के सभी नाटकों में ऐसी भावना देखने को मिलती है।

(2) पारिवारिक संरचना एवं आधुनिक दृष्टिकोण–

भारतीय समाज पितृसतात्मक समाज है और यहाँ संयुक्त परिवार की ही परम्परा रही है। सदियों से पुरुष सत्ता का ही अधिकार रहा है, स्त्रियों की सहभागिता गृह काज तक ही सीमित रही है। यह बात दूसरी है कि कुछ स्त्रियों ने अपवाद स्वरूप शासन का कार भार भी सम्भाला है, परन्तु बड़ी संख्या में स्त्रियों ने घर गृहस्थी, बच्चों का पालन–पोषण आदि पारिवारिक जिम्मेदारी ही निभाती रही हैं, लेकिन आज भी उनको समाज में कोई सम्मान या अधिकार नहीं मिला है कि स्वतन्त्र जीवन यापन कर सकें। हमारा भारतीय समाज वर्गीय ढाँचे में बँधा हुआ है। निम्नवर्गीय स्त्रियों की अपेक्षा उच्च वर्ग की स्त्रियों का शोषण अधिक होता है। निम्नवर्गीय परिवार आर्थिक रूप से कमजोर होते हैं, इसीलिए इस वर्ग की स्त्रियाँ पति के साथ काम–काज करती हैं, यही कारण है वे स्वावलम्बी होती है, उन्हें समाज की परवाह नहीं होती है कि क्या आरोप लगेगा, बल्कि अपनी आवश्यकतानुसार काम करती हैं। ठीक इसके विपरीत मध्यवर्गीय सामाजिकता वाले परिवार स्त्रियों के कार्य या व्यवसाय की अवहेलना करते हैं, उन्हें लगता है कि हमारी सामाजिक प्रतिष्ठा की अवनति होगी। अपने घर की स्त्रियों को घर की चारदीवारी में कैद रखना ही उचित समझतें हैं। इस सन्दर्भ में रमणिका गुप्ता ठाकुर लिखती हैं–''ऐसा परिवार किस काम

का, जो स्त्री को सुरक्षा न दे सकें? उस स्त्री को, जो परिवार के लिए दासी, धोबी, बच्चें पैदा करने वाली मशीन, नर्स, रसोईया से लेकर पति के लिए वेश्या बननें का कार्य सम्पन्न करती है। दरअसल प्रतिष्ठा केवल परिवार की ही आंकी जाती है, स्त्री की नहीं। उसे स्वतन्त्र इकाई माननें को अब भी समाज का एक बड़ा हिस्सा तैयार नहीं है। उसी का अभाव स्त्री पर अत्याचार का कारण बनता हैं। इतना ही नहीं, परिवार के लिए किया गया स्त्री का हर काम, काम ही नहीं माना जाता। उसे कर्तव्य का हिस्सा कहा जाता है। जबकि पुरुष की हर छोटी–बड़ी हरकत उसका काम माना जाता है और सीधे आर्थिक और सुरक्षा से भी जोड़ दी जाती है। औरत घर का काम करे परिवार का इतना पैसा बचाती है, इसका कोई मूल्य नहीं आंका जाता।''[9]

भारतीय समाज में प्रारम्भिक पारिवारिक संरचना संयुक्तात्मक अवश्य थी, परन्तु अंग्रेजों के आगमन, उनकी शिक्षा नीति, औद्योगिक विकास और महानगरीय जीवन के विस्तार के साथ धीरे–धीरे ये परम्परागत आधार शिलाएं टूटनें लगीं। पंचवर्षीय योजनाओं के लागू होने के पश्चात् और भी परम्परागत मूल्य विक्षिप्त हुए। जिसका प्रभाव हमारे भारतीय समाज में देखनें को मिलता है, जिसका परिणाम 'परिवार' समाज केन्द्रित से व्यक्ति केन्द्रित होनें लगें, स्वतन्त्रता पश्चात् तो समाज व्यक्ति केन्द्रित ही हो गया। सदियों से बनी परम्पराएँ टूटनें लगीं। पारिवारिक संरचना में बदलाव आया और इस बदलाव के कारण स्त्रियों में भी परिवर्तन दिखता है। स्त्रियाँ अब जागरूक होनें लगीं। वे अब चारदीवारी की अवहेलना करके स्वालम्बी बनना चाहती है और ऐसा हमारे आधुनिक समाज में हो रहा है। पूर्व की भाँति पुरुषों के शोषण को सहन करने को तैयार नहीं है, बल्कि उसका खुलकर विरोध कर रही हैं, परन्तु ऐसा सिर्फ शिक्षित वर्ग की

स्त्रियों के ही साथ है ग्रामीण स्त्रियाँ आज भी इस शोषण को सहनें को मजबूर हैं।

सन् 1947 ई0 को भारत आजाद हुआ। आधुनिकता के प्रवेश द्वार बहुत तेजी से खुलनें लगें। सामाजिक ढ़ाँचे में बदलाव के कारण स्त्रियों की जागरुकता में भी बहुत तेजी से बदलाव आया वे भी शिक्षित होनें लगीं। सतीप्रथा, बेमेल विवाह, बाल विवाह जैसी कुप्रथाएँ समाप्त हुई। स्त्रियाँ जागरूक हुई, पूर्व स्त्रियों की भाँति वे घर, परिवार, पति, सन्तान आदि तक ही सीमित नहीं रहना चाहती, बल्कि स्वतन्त्र व्यक्तित्व, यश, गौरव और आत्मसम्मान के साथ जीना चाहती हैं। शिक्षित स्वालम्बी और आत्मनिर्भर बननें की चाहत तीव्र होती गयी। स्त्रियों के स्वालम्बी बननें के कारण पारिवारिक संरचना में काफी बदलाव हुए। स्त्री–पुरुष का सम्बन्ध परम्परागत न रह गया, जो मुक्त स्वर से उनकी आज्ञा का पालन करती या उनके दुराचारों एवं अमानवीय व्यवहारों को सहती, बल्कि अब आधुनिक नारी अपने अधिकारों को पेश करती है, जिसके कारण परम्परागत मूल्यों की टकराहट से समर्पण का भाव न रहकर चुनौती और प्रतिस्पर्ध्दा का हो जाता है। इससे पुरुषत्व अह्म जाग्रत होने के कारण पुरुष स्त्री स्वतन्त्रता का विरोध करता है, इसलिए परिवार का वातावरण तनावपूर्ण हो जाता है। इस पारिवारिक दशा के सन्दर्भ में डॉ आभा गुप्ता लिखती हैं–''आधुनिक नारी की आकाँक्षा का एक अन्य पहलू है कैरियर के प्रति इनकी प्रतिबध्दता। लेकिन इन नौकरी पेशा महिलाओं को पारिवारिक और सामाजिक स्वीकृति के लिए काफी संघर्ष करना पड़ता है और तब भी स्वीकृति उन्हें बहुत मुश्किल से मिल पाती है। सबसे पहली चुनौती इन्हें अपने परिवार वालों से झेलनी होती है और विशेषतः पुरुष की। क्योंकि कोई भी पुरुष अपनी स्त्री का उत्थान वहीं तक चाहता है, जहाँ तक

उसके व्यक्तित्व को ठेस न पहुँचे और उसकी सामाजिक प्रतिष्ठा बरकरार रहे। पुरुष साधारणतः अपने 'प्रभुत्व' को ठेस पहुंचानें वाली महात्वांकाक्षी स्त्री को सहर्ष स्वीकार नहीं कर पाता और परिणामतः इनका पारिवारिक जीवन तनावपूर्ण हो जाता है। मोहन राकेश के नाटक आधुनिक एवं परम्परागत विचारों से परिपूर्ण हैं। 'आषाढ़ का एक दिन' की नायिका मल्लिका के माध्यम से लेखक ने परम्परागत पारिवारिक मूल्य एवं संस्कार को प्रतिबद्ध किया है, तो वहीं दूसरी ओर आधुनिक भावबोध से भी सम्पृक्त किया है। यही कारण है, कि मल्लिका न तो स्वतन्त्र जीवन ही व्यतीत कर पाती है और न विलोम के साथ विवाहित होकर खुशी से घर ही बसा पाती है। परम्परागत मूल्य एक ओर उसे घर से बाँधतें हैं, तो दूसरी ओर भावनात्मक प्रेम उसकी गरिमा को बढ़ातें भी हैं। स्त्री के समर्पण भाव, स्नेहमयी, कोमलता, कालिदास से अनुराग, घायल हरिण शावक की सेवा, माँ से प्रेम, ग्रामप्रांत की प्रकृति एवं मातुल आदि से लगाव उसकी चारित्रिक विशेषताओं को उजागर करते हैं। जिस तरह भारतीय समाज में स्त्रियाँ परिवार के सन्तुलन के लिए चिन्तित रहती हैं, उसी तरह मोहन राकेश के स्त्री पात्र भी। मल्लिका की इस तरह की भावनात्मक आसक्ति अम्बिका को विस्मय में डाल देती है और वह यर्थाथ बोध का ज्ञान कराते हुए कहती है–''तुम जिसे भावना कहती हो वह केवल छलना है आत्म प्रवंचना है। भावना में भावना का वरण किया है मैं पूछती हूँ भावना में भावना का वरण क्या होता है। उससे जीवन की आवश्यकताएं किस तरह पूरी होती हैं।''[11] इस कथन से यह पुष्ट हो जाता है कि अम्बिका सिर्फ परिवार के ही वशीभूत नहीं है, बल्कि आधुनिक स्त्री की भाँति यर्थाथबोध एवं दूरदर्शी भी है। महामारी में पति की मृत्यु के बाद अम्बिका आत्मनिर्भर स्त्री का प्रतिनिधित्व कर रही है, उसे उस प्रत्येक सामाजिक दायरे का

ज्ञान है, जो एक स्वावलम्बी स्त्री को होना चाहिए। उसे यह भी बोध है कि अपने अस्तित्व से समझौता कहाँ करना चाहिए। व्यंग्य एवं आक्रोश को वह अपनी जिन्दगी का हिस्सा नहीं बनाना चाहती है, परन्तु सामाजिक विसंगति और अपने परिवार को बचाने की चिन्ता ने उसे मजबूर कर रखा है। इसी आत्म प्रवंचना में वह अपनी पुत्री से कहती है–''लो 'मेघदूत' की पंक्तियाँ पढ़ो। इन्हीं में न कहती थी उसके अन्तर की कोमलता साकार हो उठी है? आज इस कोमलता का और भी साकार रूप देख लिया? आज वह तुम्हें तुम्हारी भावना का मूल्य देना चाहता है, तो क्यों नहीं स्वीकार कर लेती। घर की भित्तियों का परिसंस्कार हो जाएगा और तुम उनके यहाँ परिचारिका बनकर रह सकोगी इससे बड़ा और क्या सौभाग्य तुम्हें चाहिए?''[12]

मल्लिका कालिदास को समर्पित भाव से प्रेम करती है, वह उसे इसी तरह बेरोजगार, असम्मानित नहीं रहने देना चाहती है। उज्जयिनी से राजकवि सम्मान के लिए कुछ अतिथि कालिदास को लेनें आतें हैं। कालिदास अपनी प्रतिभा को राजमुद्राओं से क्रीत होने के लिए नहीं समझतें, परन्तु मल्लिका कालिदास को यह समझाकर भेज देती है कि ग्राम प्रान्त में उसकी प्रतिभा को कोई आंक नहीं पाएगा। यह जानते हुए भी की कालिदास के चले जाने के पश्चात् उसके हृदय का कोई कोना रिक्त हो जाएगा फिर भी अपने प्रिय का हित देखकर अपना आत्मगौरव बढ़ाना भारतीय परम्परागत मूल्य ही हैं। जहाँ वह अपने–आप को गौरान्वित महसूस करती है और अपनी माँ अम्बिका से कहती है ''मैं रो नहीं रही हूँ माँ मेरी आखों से जो बरस रहा है वह दुःख नहीं है यह सुख है, माँ.....सुख.... ।''[13]

भारतीय परम्परा में यह धारणा देखने को मिलती है कि स्त्रियों ने परिवार को समेटा ही है, बिखेरा नहीं, चाहे वह उच्च वर्ग की स्त्रियाँ रही हो या मध्य, निम्न। प्रियंगुमंजरी एक उच्चवर्गीय राजदुहिता है फिर भी वह परिवार को सुचारु रूप से चलाने के लिए अनेक उपाय करती है। यही कारण है कि वह मल्लिका का विवाह किसी राजसैनिक से कराना चाहती है, ग्रामप्रान्त जाकर वहाँ की अव्यवस्थाओं को व्यवस्थित करना चाहती है। कालिदास का मन विचलित न हो इसलिए यहाँ से कुछ प्राकृतिक वातावरण अपने साथ ले जाना चाहती है, यह इसलिए कि "उन्हें अभाव का अनुभव न हो। इससे कई बार बहुत क्षति होती है। वे व्यर्थ में धैर्य खो देते है, जिससे समय भी जाता है, शक्ति भी। उनके समय का बहुत मूल्य है, मैं चाहती हूँ उनका समय उस तरह नष्ट न हुआ करे। इसलिए कुछ हरिण शावक जाएंगे, जिनका हम उद्यान में पालन करेंगे। यहाँ की औषाधियाँ उद्यान के क्रीडा–शैल पर तथा आसपास के प्रदेश में लगवा दी जाएगी। हम यहाँ के से कुछ घरों का भी निर्माण करेंगे। मातुल और उनका परिवार भी साथ जाएगा यहाँ से कुछ अनाथ बच्चों को वहाँ ले जाकर हम शिक्षा देगें।''[14] ये उपादान प्रियंगुमंजरी अपने लिए नहीं, बल्कि अपने पारिवारिक बचाव के लिए करती है। मल्लिका के घर का परिसंस्कार विवाह का प्रलोभन आदि प्रभाव स्वरूप देखे जा सकतें हैं। यही नहीं प्रियंगुमंजरी साहित्यिक जीवन को लेकर भी तटस्थ रहती है, शायद यही कारण है कि वह मल्लिका की अपेक्षा अपने को हीन भावना से ग्रस्त पाती है इस आवरण को छुपाते हुए वह कहती है–''साहित्य उनके जीवन का पहला चरण था। अब वे दूसरे चरण में पहुँच चुके हैं। मेरा अधिक समय इसी प्रयास में बीतता है कि उनका बढ़ा हुआ चरण पीछे न हट जाये। बहुत परिश्रम पड़ता है इसमें।''[15] इस कथन से यह तो पुष्ट हो

जाता है कि स्त्री पात्र सिर्फ पारिवारिक संरचनाओं में ही नहीं लगी हुई है, बल्कि अपनी आधुनिक दृष्टिकोण को भी प्रदर्शित करती है। 'आधे–अधूरे' की सावित्री एक ऐसी ही पात्र है, जो परिवार के साथ अपनी अस्मिता को खोना नहीं चाहती। इसलिए वह पूर्णता की तलाश पर पुरुषों में करती है, परन्तु इसके बावजूद वह अपने घर को बिखेरना नहीं चाहती है। पुत्र अशोक की नौकरी के लिए वह सिंघानिया साहब को घर पर बुलाती है और नौकरी के लिए बात–चीत चलाती है। यही नहीं वह आत्मनिर्भर, स्वावलम्बी एवं आधुनिक स्त्री है। सावित्री के चरित्र से यह स्पष्ट हो जाता है कि समकालीन जिन्दगी की विसंगतियों से लड रही स्त्री ने अभी हार नहीं मानी है, बल्कि अपने अस्तित्व के प्रति जागृत होकर अपने पारिवारिक दायित्व के प्रति भी सचेत हैं। वह अपने जीवन की आकाँक्षाओं को अपने घर, पति द्वारा पूर्ण एवं मूर्त होते देखना चाहती है, परन्तु इसकी पूर्ति होते न देख उसका स्वभाव व्यंग्य एवं आक्रोश में परिवर्तित हो जाता है। जिसका परिणाम यह होता है कि न तो पूरी तरह अपने आधे–अधूरे पति से सन्तुष्ट हो पाती है और न ही स्वयं से ही पूरी तरह से मुक्त हो पाती है। सिंघानिया साहब को घर पर इसलिए आमंत्रित करती है कि आर्थिक अभाव का निराकरण किया जा सके लेकिन इसके विपरीत पारिवारिक कलह ही उत्पन्न हो जाती है। इससे यही स्पष्ट होता है कि जितना स्त्री पारिवारिक जिम्मेदारी का ध्यान रखती है, उतना पुरुष नहीं। इसके परिणामस्वरूप उत्पन्न सम्बन्धहीनता, कड़वाहट, अकेलापन, द्वन्द्व एवं घुटन आदि विसंगतियाँ महेन्द्र एवं सावित्री पर ही नहीं दिखती, बल्कि पूरा परिवार ही इस चपेट में आ जाता है। सावित्री के आधुनिक होने पर कई सवाल उठ जाते हैं, जबकि यह आधुनिकता सावित्री में ही नही अन्य पात्रों में भी है, परन्तु यही आधुनिकता जब पुरुषों में आती है, तो वह विरोध का

कारण कभी नहीं बनती है, जबकि इसके विपरीत स्त्रियों से यह अपेक्षा की जाती है कि वह आधुनिक न बनें, वें परम्परागत मूल्यों की ही भाँति जीवन यापन करे। यही कारण है सावित्री परिवार की आर्थिक जिम्मेदारी उठाने के लिए मजबूर हो जाती है। बड़ी लड़की बिन्नी भी अपना उजड़ा हुआ परिवार बसाना चाहती है। इसलिए वह वस्तु खोज रही है जिसने उसे परिवार से विमुख किया है। वह कहती है–''मेरा अपना घर! हाँ और मैं आती हूँ कि एक बार फिर खोज की कोशिश कर देखूँ कि क्या चीज है वह इस घर में जिसे बार–बार मुझे हीन किया जाता है। लगभग टूटते स्वर में तुम बता सकती हो ममा कि क्या चीज है वह? और कहाँ है? वह? इस घर के खिड़कियों दरवाजों में? छत में? दीवारों तुम में? डैडी में? किन्नी में? अशोक में? कहाँ छिपी है वह मनहूस चीज जो वह कहता है कि मैं इस घर से अपने साथ लेकर आयी हूँ।''[16]

'लहरों के राजहंस' की नायिका सुन्दरी भी अपने परिवार का विग्रह होते हुए नहीं देख सकती भले ही वह रूपपाश या सौन्दर्य के जरिए ही ये रास्ता ढूँढ़ पाती है। उसका मानना है कि स्त्री का सौन्दर्य ही पुरुष को अपनी ओर आकर्षित कर सकता है, यदि वह इस कार्य में सफल होती है, तो परिवार विघटित नहीं हो सकता। यही कारण है कि वह 'यशोधरा' को एक असफल स्त्री मानती है। वह सौन्दर्यवती है इस बात का उसे गर्व है और नन्द इस पारिवारिक ढ़ाँचे में ढला भी रहता है। सर्वत्र ही एक कामुकता एवं श्रृंगारिकता की झलक मिलती है, परन्तु अंततः यह मिथ्या आडम्बर टूट जाता है और नन्द बौद्ध धर्म में दीक्षित हो जाते हैं। 'पैरों तले की जमीन' नाटक अत्याधिक आधुनिक है। इसके सभी पात्र अपनी इच्छानुसार कार्य करना चाहते हैं। यहाँ पर स्त्री पात्र ही नहीं, बल्कि पुरुष पात्र भी मरने से पहले एक बार अपने परिवार के साथ जीना चाहते हैं।

अब्दुल्ला एक ऐसा पात्र है जो पारिवारिक वृद्धि के लिए तीन विवाह करता है और मरने से पहले अपने बच्चे को देखना चाहता है। सलमा का विवाह अयूब से उसकी मर्जी के खिलाफ होता है, फिर भी वह पारिवारिक वृद्धि एवं वंश परम्परा निभाने के लिए माँ बनती है। नीता और रीता दोनों अत्याधिक आधुनिक नारी पात्र होते हुए भी नाटक में पारिवारिक संस्कारों की छटा बिखेरती हैं।

(3) नारी का विद्रोह–

आधुनिक युग वैज्ञानिक और उन्नति का युग है विश्व में नई–नई खोजें हो रहीं हैं नये–नये विभिन्न आयाम देखने को मिल रहें हैं ऐसे में यह स्वाभाविक है कि मानव जाति स्वतन्त्रता की ओर उन्मुख होगी और आज मनुष्य के स्वतन्त्र होने की जितनी आंकाक्षा बढ़ गयी है, उतनी कभी नहीं थी। चारों ओर क्रांति ही क्रांति दिखाई दे रही है, यही कारण है कि कोई किसी के अधीन नहीं रहना चाह रहा है। गुलामी की जंजीरे अब टूट रही हैं, ऐसे में स्त्रियों की भी जिज्ञासा बढ़ी, वो भी अपनी अस्मिता की तलाश करने लगीं, जो चिरकाल से वन्दनी बनी हुई थीं। इन परिवर्तनों ने स्त्री को समय दिया और इन्हें अपनी स्थिति समझने का बोध जाग्रत हुआ। अब यह भलीभांति महसूस कर रही है कि वो वास्तव में कहाँ है? क्या स्थिति है उनकी? कभी जो देवी नाम से सम्बोधित और सम्मानित होती थी आज उन्हीं के लिए समाज में न कोई आदर है और न ही कोई सम्मान या स्थान ही रह गया। यह बात दूसरी है कि स्वतंत्रता पश्चात् उन्हें कुछ अधिनियमों के द्वारा अधिकार मिलें परन्तु आज भी समाज में पुरुष वर्ग का बड़ा हिस्सा उसी परम्परागत दृष्टि से देखता है। सच तो यह है कि पुरुष जाति के सम्पूर्ण अधिकार और कृपा पर ही स्त्रियों का जीवन निर्भर है। विवाह पश्चात् घर, परिवार, पति अच्छे मिले तो ठीक है, नहीं तो इनका

कोई विशेष मूल्य ही नहीं है परन्तु अब स्त्रियाँ इस विसंगति भरी जिन्दगी को समझनें की कोशिश कर रही हैं अपने ऊपर थोपे गए बन्धन और अन्याय का विरोध करते हुए बाहर निकलनें का प्रयत्न कर रही हैं। 'आषाढ़ का एक दिन' की मल्लिका विवाह के परम्परागत दृष्टिकोण को नकारते हुए कहती है–''क्या अधिकार है उन्हें कुछ भी कहने का? मल्लिका का जीवन उसकी अपनी सम्पत्ति है। वह उसे नष्ट करना चाहती तो किसी को उस पर आलोचना करने का क्या अधिकार है।"[17]

'स्त्री' को सिर्फ किसी एक पहलू से लड़ना नहीं होता है, बल्कि वह अनेक संस्थानों, परिवार, धर्म, सभा, राजनीति, सम्बन्धों आदि अनेक बाह्य एवं आन्तरिक कारणों से भी जूझना पड़ता है, क्योंकि उसकी पराधीनता की जड़े इतनी गहरी है कि उसको उसी पारम्परिक स्वरूप से ही गहरी आसक्ति बनी हुई है–''यह ठीक है कि आधुनिक समाज में पहले की अपेक्षा स्त्री के लिए अधिक अनुकूल परिस्थितियाँ मिलती है, किन्तु अब भी उसको पहला कदम सामाजिक विद्वेष के बीच ही उठाना पड़ता है।''[18] मल्लिका अपने उन्मुक्त प्रेम को लेकर उन सभी अपवादों का विरोध करती है, जो बीच में आते हैं। ग्राम प्रान्त से लेकर विलोम, अम्बिका तक का विरोध करती है जब उसे यह पता चलता है कि कालिदास राजकवि सम्मान के लिए तैयार नहीं है, तो अपनी माँ द्वारा रोके जाने पर भी नहीं रूकती है और बिना झिझक चली जाती है। कालिदास और विलोम के वार्तालाप में वह उसका अपमान नहीं सहती है, बल्कि स्वाभिमान के साथ कहती है कि–

''विलोम : मेरा अभिप्राय है कि तुम अभी तक वही व्यक्ति हो न जो कल तक थे?

मल्लिका : आर्य विलोम, मैं इसप्रकार की अनर्गलता क्षम्य नहीं समझती।''[19] यही नही मल्लिका उन अपवादों का भी विरोध करती है, जो उसके प्रेम सम्बन्धों पर लगाए गए हैं। वह स्वछन्द जीवन व्यतीत करती है और उन सभी मान्यताओं का खण्डन करती है, जो स्त्री को बाध्य बनातें हैं। ऐसा नहीं है कि वह अपने कर्तव्य के प्रति जागरूक नहीं हैं, उसको अपने अस्तित्व की पहचान हैं। वह राजकुमारी प्रियंगुमंजरी की सत्ता के दबाव में आकर भी नहीं डरती और जहाँ उसे लगता है कि उसके अस्तित्व को मूल्य दिया जा रहा है वहाँ वह तुरन्त स्पष्ट शब्दों में अस्वीकार कर देती है। मल्लिका जितना बाह्य जिन्दगी का विरोध करती है, उतना आन्तरिक भी। अपने प्रेम का बलिदान कर स्वयं आँसुओं से भीगकर, कैसे–कैसे अकेले दिन काटे थे, वह सब धराशायी होते देख स्वयं से कालिदास के द्वारा किए कार्यो का आन्तरिक विरोध सहती है–''इस जीव को देखते हो? पहचान सकतें हो? यह मल्लिका है जो धीरे–धीरे बड़ी हो रही है और मां के स्थान पर अब मैं उसकी देखभाल करती हूँ। परन्तु अभाव के कोष्ठ में किसी दूसरे की जानें कितनी–कितनी आकृतियाँ हैं। जानते हो मैंने अपना नाम खोकर एक विशेषण उपार्जित किया है और अब मैं अपनी दृष्टि में नाम नहीं केवल विशेषण हूँ।''[20]

अम्बिका एक ऐसी यर्थाथवादी महिला है, जो समाज में स्त्री के स्त्रीत्व को बखूबी पहचानती और जानती भी है। वह एक विधवा स्त्री है, परन्तु किसी के अधिकार में रहना पसन्द नहीं करती है। वह आत्मनिर्भर है अपना और अपनी पुत्री का भरण–पोषण इस अवस्था में भी करती है अपने व्यवहार एवं अस्तित्व की परख बहुत सूक्ष्म रखती है। प्रियंगुमंजरी के आगमन पर वह अपने स्वास्थ्य को चुनौती देते हुए बाहर आती है। पुत्री द्वारा रोके जाने पर भी वह नहीं रूकती, बल्कि उसका विरोध करती हुई

कहती है–''किसी आने वाले से बात भी नहीं कर सकती? दिन, मास, वर्ष मुझे घुटते हुए बीत गए। मेरे लिए यह घर नहीं, एक कालगुफा है जिसमें मैं हर समय बन्द रहती हूँ और तुम चाहती हो, मैं किसी से बात भी न करूँ?''[21] अम्बिका अपनी पुत्री का ही नहीं, बल्कि उसे पुरुष के छलावे से भी वितृष्णा है। वह कालिदास का विरोध करती है और व्यंग्यों के माध्यम से अपनी तृष्णा को शान्त करती है। वह हिरण को विस्तर पर बैठाए जाने से लेकर कालिदास के राजकवि सम्मान तक को पैनी दृष्टि से देखती है। यही नहीं वह विलोम से भी क्षोभित हो जाती है। विलोम कालिदास के जानें से पहले विवाह को लेकर बार–बार पूछता है, जिससे अम्बिका तीखे स्वर में कहती है–''मैं कह चुकी हूँ, मुझे इस सम्बन्ध में कुछ नही कहना है।"[22] अम्बिका मल्लिका के भावनात्मक प्रेम का भी विरोध करती है, क्योंकि वह यर्थाथवादी जीवन में विश्वास रखती है। वह कहती है–''भावना में भावना का वरण क्या होता है? उससे जीवन की आवश्यकताएँ किस तरह पूरी होती हैं? भावना में भावना का वरण, हँ।''[23] मल्लिका और कालिदास के अनुरक्त प्रेम का ग्राम प्रान्त में अपवाद फैल जाता है, पुत्री के इस अतिवादिता का विरोध करते हुए कहती है कि –''इतना बड़ा अपवाद मुझसे नहीं सहा जाता। अन्य लोगों का उससे क्या प्रयोजन है? परन्तु मुझे है। उसके प्रभाव से मेरा घर नष्ट हो रहा है।''[24]

प्रियंगुमंजरी चूँकि एक राजदुहिता है, तो स्वाभाविक है कि उसे स्त्रीत्व अधिकारों का बोध होगा। इसलिए वह कालिदास पर अपना प्रभुत्व बनाए रखने के लिए और ग्राम प्रान्त जाकर समस्त ग्रामवासियों की अव्यवस्थाओं का परिसंस्कार के लिए आदेश देती है। कुछ ऐसा ही मल्लिका के घर का भी परिसंस्कार करना चाहती है, परन्तु उसके सौम्य, सुशील स्वभाव एवं समर्पण भावना को देखकर स्वयं से ही हीन महसूस

करनें लगतीं हैं, जिसे उसको आन्तरिक विरोध हो जाता है उसकी मीठी गम्भीर मुस्कराहट इसका प्रमाण है। मल्लिका के सौन्दर्य को देखकर वह विस्मित हो जाती है। और मन ही मन कुण्ठित होकर कहती है–''इसीलिए तुमसे स्पर्द्धा होती है। सौन्दर्य का यह सहज उपभोग हमारे लिए केवल एक सपना है।''[25]

मोहन राकेश के नाटक 'लहरों के राजहंस' की नायिका सुन्दरी उच्च राजवंश घरानें की कुलवधू होकर भी पुरुष सत्ता के छलावे का विद्रोह करती है, वह 'गौतम बुद्ध' से 'यशोधरा' तक का कटाक्ष करती है। उसके अन्दर एक ही अह्म है कि वह सौन्दर्य प्रसाधन से पुरुष को अपनी ओर आकर्षित कर सकती है। जहाँ उसके अन्दर यह एक दोष है, तो वहीं दूसरी ओर स्नेह, प्रतिष्ठा, वाक्–चातुरता, बोधात्मक शक्ति, दया–करुणा आदि गुण भी विद्यमान हैं। उसका व्यक्तित्व विभिन्न आयामों से भरा पड़ा है, अवसर मिलते ही सभी प्रस्फुटित होते हैं। वह आधुनिक नारी की भाँति स्वछन्द जीवन व्यतीत करती है। अपनी इच्छाओं को ही सर्वोपरि रखती है, उसका दमन नहीं करती है, न किसी अन्य सदस्य द्वारा और न ही स्वयं पति नन्द द्वारा होनें देती हैं। 'गौतम बुद्ध' की कामनाओं पर कटाक्ष करते हुए उसका विरोध करती है–''सुन्दरी : लोग कहते हैं कि 'गौतम बुद्ध' ने बोध प्राप्त किया है, कामनाओं को जीता है। पर मैं कहती हूँ कि कामनाओं को जीता जाए, यह भी क्या मन की एक कामना नहीं है? और ऐसी कामना किसी के मन में क्यों जगती है।''[26] सुन्दरी इस तरह की कामनाओं को स्वाभाविक दृष्टि से देखती है और विरोध को मनुष्य की आस्वाभविक विशेषता मानती है। वह स्त्री के परम्परागत दृष्टिकोण का भी विरोध करती है। इसलिए वह सोच समझकर उसी दिन कामोत्सव का आयोजन रखती है, जिस दिन महारानी 'यशोधरा' का दीक्षान्त समारोह होता है, किन्तु

कामोत्सव में आर्य मैत्रेय को छोड़कर किसी अतिथि का न आना उसे व्यथित करता है। इस तरह आयोजन को विफल होते देखकर उसे लोगों से वितृष्णा हो जाती है। आर्य मैत्रेय के यह कहने पर कि उत्सव टाल दिया जाए तो सुन्दरी इस बात से आक्रोशित हो जाती है और विरोध करते हुए कहती है–

''सुन्दरी : कामोत्सव कामना का उत्सव है, आर्य मैत्रेय। मैं अपनी आज की कामना कल के लिए टाल रखूँ क्यों? मेरी कामना मेरे अन्दर की है। मेरे अन्दर में ही उसकी पूर्ति हो सकती है। बाहर का आयोजन उसके लिए उतना महत्व नहीं रखता जितना कुछ लोग समझ रहे हैं।''[27]

यहाँ स्पष्ट है कि सुन्दरी आधुनिक स्त्री की भाँति स्वनिर्भर है। उसकी इच्छा अपनी इच्छा है, किसी के रहने या न रहने पर उसको कोई फर्क नहीं पड़ता। वह यह स्वीकार नहीं करती है कि उसके उत्सव में लोग अनुरोध करने पर आए। नन्द के निमन्त्रित करने पर भी किसी का न शामिल होना उसके स्वाभिमान को जाग्रत करने के ही बराबर था। नन्द को सुन्दरी के उद्वेग का कारण पता चल जानें पर वह आर्य मैत्रेय को रोकता है, परन्तु सुन्दरी उसका पुर जोर विरोध करती है–

''सुन्दरी : (आपे से बाहर होकर) अपने उद्वेग का वास्तविक कारण मैं स्वयं हूँ और किसी को यह अधिकार मैं नहीं देती कि वह मेरे उद्वेग का कारण बन सकें। आर्य मैत्रेय यदि जाना चाहते हैं, तो इन्हें भी जानें दीजिए। कह दीजिए कि जिनके यहाँ से होकर आए हैं, जाते हुए भी एक बार उनके यहाँ होते जायें। उन सबसे कह दें कि मेरे यहाँ आने के लिए किसी कल

की प्रतीक्षा में न रहें। वह कल अब उनके लिए कभी नहीं आएगा, कभी नहीं।''[28]

सुन्दरी अपने जीवन में किसी का हस्तक्षेप या अधिकार स्वीकार नहीं करती है, वह स्वयं में ही अपने आप को पूर्ण समझती है और उन लोगों को खुलकर चुनौती देती है, जो अतिथि सेवा को स्वीकार नहीं कर पातें हैं। यही नहीं वह एक तरफ नन्द पर विश्वास करती है, तो दूसरी तरफ नन्द के मानसिक हलचलों से द्वन्द्व में भी रहती है। इसी तरह नन्द द्वारा किया गया विश्वासघात उसके स्वाभिमान को जाग्रत कर देता है अपने व्यक्तित्व में पुरुष के इस प्रकार के छलावे को आँच भी नहीं आने देती है। उसी के शब्दों में–''सुन्दरी : मैंने कहा अलका, मैं अपने स्वाभिमान को और अधिक नहीं छल सकती नदी तट तक आनें–जानें में जितना समय लगता है। उसके अतिरिक्त घड़ी भर समय और यह उन्होंने कहा था मैंने विश्वास से उन्हें भेजा था, चाहती तो उस समय उन्हें रोक भी सकती थी, परन्तु मैंने नहीं चाहा क्योंकि रोकना दुर्बलता होती।''[29]

नन्द जब मुण्डित होकर आता है, तो भी सुन्दरी विरोध ही करती है–

''सुन्दरी : (चबूतरे से उठती हुई) नहीं। लौट कर वें नहीं आए। जो आया है, वह व्यक्ति कोई दूसरा ही हैं।''[30]

नन्द के इतनी जल्दी प्रभावित हो जानें पर भी कटाक्ष करती है–

''सुन्दरी : जान अब नहीं गई हूँ, सदा से जानती रही हूँ कि जितना साधारण और लोग हैं, उतने ही साधारण आप भी। जितनी आसानी से वे सब प्रभावित हो सकतें हैं, उतनी ही आसानी से आप भी हो सकतें हैं। अन्तर केवल इतना है कि लोग एक बार प्रभावित होतें हैं, आप बार–बार प्रभावित हो सकतें हैं।''[31]

सुन्दरी को कष्ट नन्द के मुण्डित होनें से नहीं हैं, बल्कि उसके विश्वासघात से है। जबकि पुरुष जाति ने सिर्फ अपने आपको समझा है, स्त्रियाँ तो स्वयं उसके अधीन थी। लेकिन सुन्दरी वो बेड़ियाँ तोड़ चुकी है। राजघरानें में कुलवधू 'वर' के अधीन होती है, यहाँ सुन्दरी के अधीन नन्द है, क्योंकि वह परम्पराओं में विश्वास नहीं रखती है, न किसी अन्धविश्वास में जीती है। सुन्दरी ने उन सभी पक्षों का विरोध किया है जहाँ उसके स्त्रीत्व को ठेस पहुँचती है, इसलिए जब नन्द सुन्दरी के आन्तरिक भाव को नहीं समझ पाते हैं, तो वह आत्मप्रवंचना स्वरूप विरोध करते हुए कहती है–''सुन्दरी : इतना ही तो समझ पाते हैं ये लोग..... बस इतना ही तो इनकी समझ में आ पाता है.....। इससे अधिक कभी समझ भी नहीं पाएंगे ये..... कभी नही समझ पाएंगे।"[32] अन्य पात्रों में अलका सुन्दरी की दासी एवं एक अच्छी सखी है, उसका विद्रोह न करना स्वाभाविक है, परन्तु साहसी भी कम नहीं है महारानी के सामने अपने प्रेम प्रसंग को स्वीकार करती है और स्पष्ट रूप से सूचनाएं प्रदान करती है। 'आधे–अधूरे' की सावित्री भी पुरुष सत्ता की कई वर्जनाओं का विरोध करती है। उसकी उम्र चालीस से कम नहीं है, फिर भी अपनी इच्छा में ही समकालीन स्त्रियों की भाँति जीती है। वह तत्कालीन समस्याओं से संघर्ष करती हुई भी हार नहीं मानती है और वह आर्थिक रूप से आत्मनिर्भर स्त्री है। पुरुष के किसी भी दबाव को सहन नहीं करती है, बल्कि पारिवारिक जिम्मेदारियाँ स्वयं वहन करती है, उसे यह बिल्कुल गँवारा नहीं है कि कोई भी पुरुष उसे वस्तु की भाँति देखे, उसका तुरन्त निषेध करती है। उसकी जिन्दगी खीज एवं अन्तर्द्वन्द्व में उलझी अवश्य है, परन्तु अपनी अस्मिता की खोज में तत्पर है। वह दिन–रात मेहनत इसलिए करती है कि उसका परिवार सुखी एवं वृद्धि के स्तर पर आ जाए। वह पुत्र अशोक

को नौकरी दिलवानें के लिए सिंघानिया साहब को घर आमन्त्रित करती है, परन्तु अशोक उसकी सराहना के बजाय उसको निन्दनीय दृष्टि से देखता है, जिससे सावित्री के अह्म को चोट पहुँचती है। इसीलिए वह भविष्य में परिवार की जिम्मेदारी उठाने के लिए इन्कार करती है। अपने इस अपमान से आक्रोशित होते हुए कहती है–''सावित्री : ठीक है। आज से मैं सिर्फ अपनी जिन्दगी को देखूंगी..... तुम अपनी–अपनी जिन्दगी को खुद देख लेना। मेरे पास अब बहुत साल नहीं है जीनें को। पर जितनें हैं, उन्हें मैं इस तरह और निभाते नहीं काटूंगी। मेरे करने से जो कुछ हो सकता था इस घर का हो चुका आज तक, मेरी तरफ से यह अंत है उसका..... निश्चित अंत।''[32] सावित्री जिस तरह बाह्य विरोध करती है, उससे भी ज्यादा आन्तारिक द्वन्द्व एवं उलझन में जीती है। इस तरह नौकरी करना, घर परिवार के लिए जीना फिर भी किसी की नजर में कोई सम्मान न रहना इत्यादि कारण उसे परेशान करते हैं। उससे भी ज्यादा अपने पति महेन्द्रनाथ की कायरता, बेरोजगारी और जुनेजा के ही इशारे पर नाचना, बिल्कुल नहीं भाँता। सावित्री को यह बात अन्दर ही अन्दर बहुत चुभती है, महेन्द्रनाथ की नाराजगी पर जुनेजा सावित्री को समझानें घर आतें हैं, उसकी (महेन्द्रनाथ) की तरफदारी एवं प्रेम प्रसंग की बात करते ही सावित्री का आक्रोश प्रस्फुटित हो जाता है और जुनेजा से कहती है–

''स्त्री : जब से मैंने उसे जाना है, हमेशा हर चीज के लिए किसी न किसी का सहारा ढूँढ़तें पाया है खासतौर से आपका यह कहना चाहिए या नहीं–जुनेजा से पूँछ लूं। वहाँ जाना चाहिए या नहीं–जूनेजा से राय लूँ। कोई छोटी से छोटी चीज खरीदनी है, तो भी जुनेजा की पसन्द से। कोई बड़ा से बड़ा खतरा उठाना है तो भी जुनेजा की सलाह से। यहाँ तक कि मुझे ब्याह करने का फैसला भी जुनेजा की सलाह से। जिन्दगी में हर

चीज की कसौटी जुनेजा। जो जुनेजा सोचता है, जो जुनेजा चाहता है, जो जुनेजा करता है, वही उसे भी सोचना है, वही उसे भी करना है, क्योंकि जुनेजा तो एक पूरा आदमी है अपने में और वह खुद! वह खुद एक पूरे आदमी का आधा–चौथाई भी नहीं है।''[33]

सावित्री महेन्द्र का ही नहीं, बल्कि उनके दोस्तों का भी विरोध करते हुए उसकी असलियत कहनें में नहीं चूकती व्यवसाय में किए गए काले कारनामें को वह इस तरह खोलती है कि जुनेजा की बोलती ही बन्द हो जाती हैं। सावित्री पर लगाए गए आरोप कि वह महेन्द्रनाथ को जीनें नहीं दे रही है, इसी की वजह से महेन्द्र बेचारा बीमार रहता है, वह अब पहले जैसे हँसता नहीं, दोस्तों में अब पहले की तरह खिलता नहीं, बातचीत नहीं करता इत्यादि का पर्दाफाश करती है कि वह किस तरह बीबी बच्चों को मारता–पीटता था। जुनेजा के पास जब कोई शब्द नहीं रह जाता है, तो वह कहता है कि कह लीजिए आप महेन्द्र की पत्नी है। जिस पर वह पूरी तरह से आक्रोशित होकर पत्नी पद स्वीकारनें को ही इन्कार कर देती है और कहती है–''स्त्री : (आवेश में उसकी तरफ मुड़कर) मत कहिए मुझे महेन्द्र की पत्नी। महेन्द्र भी एक आदमी है। जिसका अपना घर बार है, पत्नी है, यह बात महेन्द्र को अपना कहनें वालों को शुरू से ही रास नहीं आयीं।''[35]

यही नहीं सावित्री पुरुष के उन अह्मवादी दृष्टिकोण को भी धिक्कारती है, जो स्त्री को अपने ही अधिकार पर नचाना, उसकी मर्जी से दूसरों से बात करना, उठना, बैठना, चलना, मुस्कराना, मारना–पीटना इत्यादि करते हैं। क्योंकि सावित्री एक आधुनिक नारी है, वह आत्मनिर्भर होनें के कारण किसी की नहीं सुनती, बल्कि अपनी मर्जी से जिन्दगी जीती है। महेन्द्र के द्वारा किए गए कुकृत्यों को वह खुलकर विरोध तो करती ही

है साथ में चुनौती भी देती है–''स्त्री : बोल, बोल, बोल चलेगी उस तरह की नहीं जैसे मैं चाहता हूँ? मानेगी वह सब कि नहीं जो मैं कहता हूँ? पर सावित्री फिर भी नहीं चलती। वह सब नहीं मानती। वह नफरत करती है इन सबसे इस आदमी के ऐसा होनें से वह पूरा आदमी चाहती है अपने लिए..... पूरा..... आदमी। गला फाड़कर वह यह बात कहती है।''[36]

सावित्री पुरुष के दोगले स्वभाव का भी विरोध करती है। जिससे स्त्री हमेशा छलती आयी है। सावित्री एक ऐसा इन्सान चाहती है जिसमें निजता हो, आत्मीयता हो, धन्य–धान्य से परिपूरित हो, परन्तु इसकी तलाश अधूरी रह जाती है। उसको पुरुष के एकरूपी होनें की बात तब समझ आती है, जब जुनेजा, जगमोहन भी अपना असली रूप प्रकट कर देते हैं। उसे पुरुष का यह व्यवहार पसन्द नहीं आता है, जिसका विरोध करते हुए वह कहती है–''सब के सब!.... सब के सब..... एक से! बिल्कुल एक से है आप लोग? अलग–अलग मुखौटे, पर चेहरा सबका एक ही।''[37]

बड़ी लड़की बिन्नी बड़ी अवश्य है, परन्तु उसकी अपेक्षा किन्नी प्रत्येक क्षण विरोध करती नजर आती है। छोटी है फिर भी व्यंग्य और विरोध किसी वरिष्ठ से कम नहीं है वह जैसे का तैसा विरोध करना जानती है। यह सिर्फ घर में ही नहीं, बल्कि सुरेखा की माँ द्वारा अपवाद लगाए जानें पर खुद तो जवाब देती ही है और ममा से भी बदला लेनें के लिए जिद करती है। 'पैरों तले की जमीन' की नायिका सलमा भी पुरुष के प्रत्येक वर्गो का विरोध करती है, जो स्त्रीत्व के आड़े आते हैं। रीता, नीरा भी स्वतन्त्र गति से जीवन जीती है, वह अयूब के हवस का शिकार होनें पर भी समाज की मान्यताओं का खण्डन करते हुए जी रही है। सलमा विवाहित है, फिर भी अपने प्रेम–प्रसंग को खुलकर अयूब से कहती है, जिसके कारण अयूब को सलमा पर विश्वास नहीं रहता है, बल्कि शक

होने लगता है, परन्तु सलमा उसका विरोध करते हुए व्यक्तिगत जीवन में कोई फर्क नहीं पड़ने देती। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि प्रस्तुत नाटकों की सभी स्त्री पात्र विरोध करती है और यही प्रत्येक वर्ग की स्त्रियों को करना होगा, यदि वे स्त्री अस्तित्व की लड़ाई लड़ना चाहती हैं तो। स्त्री की इस चेतना की ओर संकेत करते हुए डा0 संजय गर्ग कहते हैं कि–''यदि भारतीय समाज की स्त्रियाँ अपने ऊपर मढ़े हुए लांछनों को मेटना चाहती हैं, तो उन्हें तुरन्त अपनी आँखे खोलनी चाहिए। जब तक वे ऐसी अवस्था में आँखे मूँदकर पड़ी रहेंगी, तब तक पुरुष जाति उन पर अत्याचार करती ही चली जाएगी।''[38]

(4) धर्म एवं परम्परा–

भारतीय समाज में धर्म को सर्वाधिक महत्व दिया गया है। हिन्दू धर्म में लगभग सभी सामाजिक मान्यतायें धर्म के ही अधीन होती हैं। धर्म का शाब्दिक अर्थ होता है 'धारण करने वाला' अर्थात् ऐसी उचित धारणा जो सभी को धारण करना चाहिए, जो अस्तित्व को बनाएं रखें। वस्तुतः धर्म का सामान्य अर्थ कर्तव्य से लगाया जाता है। यह मानव जीवन से सम्बन्धित एक ऐसी संहिता होती है, जो उसके व्यवहारों एवं कर्तव्यों को नियन्त्रित करती है। उसका दिशा–निर्देश करती है, जिससे एक संयमित जीवन को जिया जा सकें। इस प्रकार धर्म उन पवित्र सम्बन्धों और आचरणों की समग्रता है, जो नैतिकता पर आधारित रहती है। यदि स्त्री जीवन का विश्लेषण किया जाए, तो उसकी असामानता का मूल कारण धर्म ही मिलता है। यह हिन्दू धर्म में ही नहीं, बल्कि ईसाई, इस्लाम, यहूदी, जैन, सिख आदि धर्मो में भी स्त्री को दोयम दर्जे में रखा गया है। सभी धर्मो ने यही माना कि पुरुष ही सर्वशाक्तिमान है, बड़ी बात तो यह है कि सभी धर्मो ने पुरुष को स्त्रियों से दूर रहनें की शिक्षा दी। हिन्दू धर्म में स्त्री

उत्पत्ति की सही और प्रामाणिक जानकारी तो नहीं प्राप्त होती है फिर भी स्त्री शोषण में पुरुष अग्रणी रहा है। बौद्ध धर्म को छोड़कर सभी धर्मो ने पुरुष सत्ता को ही सर्वोपरि माना। यहाँ तक कि विश्व के सभी धर्मो के मूल प्रवर्तक पुरुष ही हैं। परम्परागत संस्कार, सामाजिक, व्यवहार, रूढ़ियाँ एवं परम्पराएँ आदि धर्म एवं राजनीति की ही देन है। धर्म में स्त्रियाँ एक प्रकार से जकड़ी हुई है। वे पुरुष के बनें–बनाएं नियमों एवं सामाजिक परम्पराओं का ही पालन करती है भले ही वह आन्तरिक रूप से ही क्यों न हों, क्योंकि पुरुष समाज ने हमेशा से ही वही मान्यताओं एवं परम्पराओं को मानने पर मजबूर किया है जो उनके वर्चस्व में हैं। स्त्री धर्म की कट्टरता का जिक्र करते हुए रमणिका ठाकुर गुप्ता लिखती हैं–''स्त्री का पुरुष के बिना जीवित रहना या पुरुष (पति) विहीन जिन्दगी को सुखपूर्वक जीना निरर्थक मानकर उससे उसके जीवन का अधिकार ही छीन लिया जाता है। उसे सुख भोगने से वर्जित कर दिया जाता है। ऊपर से तुर्रा यह कि इन कुरीतियों पर धर्म की मोहर लगाकर उन्हें पाप और पुण्य से जोड दिया गया।''[39]

भारतीय समाज में परम्पराएँ 'समाज' पर ही आधारित होती है और यह समाज धर्म पर आधारित है। 'आषाढ़ का एक दिन' की नायिका मल्लिका परम्परा एवं सामाजिक रूढ़ियों से मुक्त होना चाहती है। वह विवाह सामाजिक अपवाद, रूढ़ियों एवं कुरीतियों का विरोध करती है, परन्तु बच नहीं पाती है, क्योंकि परिवार एवं समाज का बोलबाला बहुत अधिक होता है, दूसरी तरफ उसे समाज और परिवार से भावनात्मक लगाव भी होता है। वह आर्थिक रूप से कमजोर होकर विवाह बन्धन में बन्धनें के लिए मजबूर हो जाती है। मल्लिका का चरित्र एक ओर आधुनिक दृष्टिकोण को प्रदर्शित करता है, तो वहीं दूसरी ओर भारतीय स्त्री के

परम्परागत मूल्यों को भी। वह कालिदास के प्रति सर्वस्व न्यौछावर कर आत्मप्रतिष्ठित समझती हैं, जबकि वह जानती है कि कालिदास के चले जानें पर उसके हृदय का कोई कोना रिक्त हो जाएगा फिर भी वह अपने को गौरन्वित महसूस करती है। वह माँ से कहती है–''मल्लिका : मैं रो नहीं रही हूँ, माँ! मेरी आँखों से जो बरस रहा है, यह दुःख नहीं है। यह सुख है। माँ, सुख।''[40] वही कालिदास राजदुहिता प्रियंगुमंजरी से विवाह कर लेता है। पुरुष की इस बर्बर नीति पर संजय गर्ग लिखतें हैं–''अपने स्वार्थ सिद्धि के लिए स्त्री को धर्म, नीति तथा शास्त्र बन्धन में इस प्रकार जकड़कर बाँधा गया कि अनिच्छा रहते हुए भी चूँ न कर सकें। जहाँ पुरुषों को एक नहीं, एक ही साथ अनेक विवाह करने की छूट दी गयी। वहाँ स्त्री के लिए उसके पति के मरनें के बाद आजन्म ब्रह्मचारिणी रहकर प्रेम से उच्च धर्म पालन करना ही उसे स्त्रीत्व की चरम सीमा घोषित की गई। जहाँ स्त्रियों के लिए यह सब कठोर धर्म माना गया वहाँ पुरुषों के लिए इन नियमों का पालन करना बिल्कुल आवश्यक नहीं समझा गया।''[41]

अम्बिका एक ऐसी पात्र है, जो सामाजिक परम्पराओं एवं धर्म नीति पर चल रही है। पति की मृत्यु के बाद उसने विवाह नहीं किया, क्योंकि वह परपुरुष से प्रेम सम्बन्ध स्थापित करनें को अपवाद समझती है, इसीलिए वह पुत्री मल्लिका के प्रेम का भी खण्डन करती है, क्योंकि समाज विवाह पूर्व स्त्री पुरुष सम्बन्धों को अनैतिक मानता है। स्त्री के त्याग, तपस्या, कोमल स्वभाव, मधुरवाणी से ही पुरुष आकर्षित हुआ है। कालिदास भी मल्लिका के प्रति ऐसे ही आकर्षित था। उज्जयिनी में मल्लिका की सादगी की समता कोई स्त्री नहीं कर पाती है, तो यह देख कालिदास विचलित हो जाता है और वहाँ से भागकर सीधा मल्लिका के पास आता है। इसका कारण मल्लिका का समर्पण एवं भावनात्मक प्रेम

होता है, जो उसे अन्य में नहीं देखनें को मिलता। 'लहरों के राजहंस' की नायिका सुन्दरी अह्मवादी एवं अपने सौन्दर्य पर गर्व करने वाली स्त्री है। वह जिस तरह से परम्पराओं एवं मान्यताओं का खण्डन करती है, उससे यही प्रतीत होता है कि उसे धर्म के प्रति कोई आस्था नहीं हैं, परन्तु वह बाह्य रूप से न सही तो आन्तरिक रूप से उसका सम्मान अवश्य करती है। वह एक ओर 'गौतम बुद्ध' की कामना को नकारती है, तो वहीं दूसरी ओर नन्द को अपने भाई 'बुद्ध' के पास जाने से मना भी नहीं करती, बल्कि स्वयं नन्द को क्षमा हेतु भेजती है। वह महारानी 'यशोधरा' की असफलता पर व्यंग्य करती है, तो नन्द द्वारा 'बौद्ध भिक्षु' बन जानें पर उसका सम्मान भी करती है। 'आधे–अधूरे' की सावित्री अपने अधूरे पति से आतृप्त है, तो वहीं उसी पति के साथ जीवन निर्वाह करने के लिए मजबूर भी है। वह पुत्री की समृद्धि एवं आर्थिक सहायता के लिए अपने बॉस की चाटुकारिता करती है, क्योंकि हमारे धर्म में पुत्र चाहे जितना नकारा हो जाए, परन्तु माँ के लिए हमेशा प्रिय ही रहता है। बिन्नी अपने पति से असन्तुष्ट अवश्य है, परन्तु उसका विरोध नहीं करती है, बल्कि वह वस्तु खोजती है जो उसके पति को प्रिय नहीं है। अन्ततः बिन्नी, सावित्री घर बसानें को मजबूर हो जाती है। भारतीय स्त्रियों की यही दयनीय स्थिति रही है कि विरोध करना नहीं चाहती है फिर भी उससे छुटकारा पाना चाहती हैं। सावित्री घर से त्रस्त होकर यह फैसला लेती है कि अब मैं इस घर में नही रहूंगी तो वह सबकुछ छोड़कर जाते समय इस तरह बार–बार घर को देखती है कि जैसे कुछ छूटा जा रहा हो। 'पैरों तले की जमीन' की नायिका सलमा भी परम्परा निर्वाह के लिए विवश दिखती है, वह अपने पति पर विश्वास नहीं करती है, क्योंकि उसका पति (अयूब) उसके सामने ही अन्य लड़कियों के साथ सम्बन्ध बनाता है फिर भी सलमा उसका

विरोध न करके धर्म एवं परम्परा का ही निर्वाह करती है। रीता और नीता दोनों आधुनिक एवं स्वतन्त्र स्त्री हैं लेकिन उसी सामाजिक धर्म एवं परम्परा में जीती है, जो पुरुष ने निर्धारित कर रखें हैं। हमारा समाज प्रगतिशीलता का आचरण कर रहा है, नये–नये अविष्कार हो रहें हैं, पूरी दुनियाँ में परिवर्तन देखने को मिलता है, परन्तु स्त्री जीवन में वह स्वाधीनता नहीं आ पाई जिस तरह एक पुरुष समाज में जीता है। आज भी पुत्री के जन्म पर शोक और पुत्र के जन्म पर खुशी मनाई जाती है। आज भी वही धर्म एवं नीतियाँ लागू हो रही है, जो पुरुष चाहता है। पुरुष वहीं तक स्त्री के साथ है, जहाँ वह उसके पुरुषत्व को चोट नहीं पहुँचाती। जैसे ही वह अपने अधिकार की बात करती है, वैसे ही पुरुष की दृष्टि में कुलटा हो जाती है। इस परिप्रेक्ष्य में रमणिका ठाकुर गुप्ता कहती हैं–''आप इसे नैतिक मानेगें या अनैतिक? पाप कहेंगे या पुण्य? धर्म कहेंगे कि अधर्म? जायज कहेंगे या नाजायज? आज भी यह न्याय संगत तो नहीं है, पर इसी अन्याय पर धर्म और परम्परा की मोहरें लगीं हैं, आचरण संहिताओं की सहमतियाँ बनी हुई हैं, समाज इन्हें ही मर्यादा कहकर परिभाषित करता है। इन सबसे मुक्ति तभी सम्भव है, जब स्त्री धर्म से मुक्त हो जाए क्योंकि उसकी हर गतिविधि धर्म और जाति परम्परा के धागों से संचालित होती है।''[42]

(5) मातृत्व के प्रति नवीन दृष्टिकोण–

भारतीय समाज में प्राचीन काल से ही स्त्री के 'माता' रूप की पूजा होती रही है। 'पूजा' से आशय चौक पर बैठाकर पूजनें से नहीं, बल्कि आदर भाव एवं सम्मानीय दृष्टि से देखनें और आज्ञा का पालन करने से हैं। 'मातृदेवो भव' कहकर माँ के स्थान को देव, ईश्वर, भगवान आदि के समान बताया गया है, क्योंकि माता का ह्रदय हमेशा दया, वात्सल्य आदि

गुणों से भरा रहता है। 'माँ' के त्याग एवं तपस्या के समान कोई वस्तु नहीं बताई गयी है। पिता के ऋण से तो उऋण हुआ जा सकता है, परन्तु माता के नहीं क्योंकि जन्म माँ के सिवाय और कोई नहीं दे सकता है। इसीलिए लोकगीतों एवं कहावतों में भी यह सुननें को मिलता है कि माता के ऋण से उऋण नहीं हुआ जा सकता। यह भी विलक्षण बात है कि माता भी अपने आपको तब तक धन्य नहीं समझती है, जब तक वह 'माँ' शब्द से विभूषित नहीं हो जाती। पुत्र के अभाव में सिर्फ माँ ही नहीं, बल्कि समाज भी कुलनाशिनी अपशब्द से कलंकित करता है। जिससे एक स्त्री को असहनीय पीड़ा होती है और वह जीवन को नर्क समान समझनें लगती हैं। साथ में ईश्वर को भी कोसती है कि उसने इस अधिकार से वंचित क्यों रखा है? कभी–कभी तो यहाँ तक सोच लेती है कि मुझे इस संसार में रहना ही नहीं है। मातृत्व के सन्दर्भ में सम्पादक दयानन्द मिश्र ने लिखा है–''माता का हृदय जीवन पर्यन्त वात्सल्य से अपूरित रहता है। यदि विचार किया जाय तो मातृगण नारी में जन्मजात होता है। वह बचपन से ही अपनी गुड़ियों एवं खिलौने के प्रति मातृवत आचरण करती है। छोटे–भाई बहन एवं परिवार के अन्य बच्चों की बड़ी बहन या बुआ के रूप में संरक्षण करती हुई वह अपने मातृरूप का ही परिचय देती है। ससुराल में छोटे देवर–ननद यहाँ तक कि पति की देख–रेख उसके खान–पान के प्रबन्ध में उसका मातृरूप ही परिलक्षित होता है। अतः यदि कहा जाय कि नारी जन्म से ही माँ है तो अतिश्योक्ति नहीं होगी।"[43] परम्परागत रूप में माँ की और आधुनिक युग में माँ के स्वरूप में परिवर्तन दिखता है। जहाँ पहले माँ की आज्ञा अपने बच्चों के लिए अपरिहार्य थी, वही अब स्थिति विपरीत हो गई है। पहले स्त्रियाँ घर परिवार में ही अपना सर्वस्व समझती थी, वही अब स्त्रियाँ समाज में विभिन्न संस्थाओं, राजीनति आदि में भी

भाग लेनें लगीं हैं। जिससे वे पारिवारिक जिम्मेदारियों से उदासीन होनें लगीं हैं, क्योंकि इन्हें अब ये काम छोटे–मोटे लगने लगे हैं। अपने स्थान पर नौकरों की संख्या बढ़ा रही हैं जिसको हम माहिलओं की नजाकत ही समझ सकतें हैं। बढ़ती हुई प्रतिस्पर्ध्दा में स्त्रियाँ अब मातृ कर्तव्य से भी विमुख हो रही है, क्योंकि उन्हें यह प्रतीत होनें लगा है कि पुत्र जन्म एवं पालन–पोषण में काफी समय लगता है, जिससे उनकी परितन्त्रता बढ़ती है। स्त्रियों की इस विचार धारा की ओर मुड़नें के भयावह परिणाम को बहुत पहले ही ईश्वर देवी ने आगाह कर दिया था कि–''महिलाओं का बढ़ता स्वतन्त्र भाव उन्हें कही घर से निष्काषित कर सिर्फ बाहरी जीवन का अंग न बना दें। आज घर के प्रति स्त्रियों की उदासीनता का ही कारण है–संयुक्त परिवारों का टूटना और अकेलेपन का। बाहर का आकर्षण स्त्री के लिए अब इतना बढ़ गया है कि प्रकृति ने उसे माँ बननें का जो अनुपम वरदान दिया है, वह भी उपलब्ध कराने से कतराने लगीं हैं।''[44] स्त्री हमेशा से ही अपने को सौन्दर्यमय देखना चाहती थी, आज वैज्ञानिक युग में स्वास्थ्य, लम्बें समय तक जवान रहनें की तमन्ना उस पर इस कदर हावी हो रहा है कि वो माँ नहीं बनना चाहती और यदि बनती भी है, तो स्तनपान करानें को तैयार नहीं होती हैं। क्या? पश्चिमीकरण इतना हावी हो गया है कि हम मातृत्व का कर्तव्य ही भूल गए है या आधुनिकीकरण इतना प्रभावी हो गया है कि हम अपनी भारतीय परम्परा एवं संस्कृति को भूल गए है। क्या यह कुकृत्य उचित है? कि अपने सौन्दर्य वृद्धि एवं विस्तार के लिए रक्त सम्बन्धों और घर परिवार को ही अनदेखा कर दें। स्त्री विमर्श के इस सच्चाई की ओर संकेत करते हुए सम्पादक संजय गर्ग ने लिखा है–''ज्यों–ज्यों हम पश्चिम का अनुकरण करेंगे, हम अपनी संस्कृति से कटते ही जाएंगे। माँ जो कि परिवार की

इकाई होती है, यदि वही अभारतीय संस्कृति की समर्थक हो गई, तो परिवार भारतीय कैसे बन पाएगा? समाज में भारतीयता कहाँ से आएगी? और भारत देश भारतीय कैसे रह पाएगा? क्या व्यक्तिगत स्वतन्त्रता ही स्त्री विमर्श का उच्चतम है? सामाजिक दायित्व का कोई स्थान नहीं होता। आधुनिकता में ये प्रश्न है, जो आज मुँह बाए हमारे सामने खड़े हैं।''[45] शिक्षा ज्ञान को जाग्रत करने एवं स्वस्थ्य समाज का निर्माण करने के लिए होती है। स्त्रियों को भी इसीलिए शिक्षित किया जाता है कि वो अपने कर्तव्यों को समझ सकें। यह नहीं कि अपने ही बच्चें को दूध तक पिलाने के लिए एक अलग से आया रखीं हों। उसको खिलानें से लेकर टहलानें तक के लिए भी अलग से नौकर रख रही है, जबकि बालक एक सादे कागज की भाँति होता है वह जो देखता है, उसी का अनुकरण करता है। जहाँ उसे एक माँ की जरूरत होती है वहाँ उसे नौकर मिल रहे है ऐसे में बालक धृष्ट होंगे ही। स्त्रियों की इस विमुखता एवं उदासीनता की ओर इंगित करते हुये लल्ली प्रसाद पाण्डेय 'स्फुट विचार' नामक लेख में लिखते हैं–''बच्चे के साथ कम से कम इतना सम्पर्क तो रहे कि उसमें माता के भाव अंकुरित हो, वह बिल्कुल नौकरों में ही न पाला जाये। जिन्हें नौकर रखने के सुभीते प्राप्त है, वे जरूर उनका उपयोग करें, इसके लिए कोई मना नहीं करता। कहना इतना ही है कि बालक वास्तव में माता के तत्वाधान में जैसा लालित–पालित होता है, वैसा औरों की देखरेख में नहीं। शिक्षित माता तो उस काम को और भी अच्छे ढ़ंग से सम्पन्न कर सकती हैं। उसमें और अनाड़ी माता में यही तो विभेद होगा। यदि वह तन्दुरुस्त है, यदि वह आहार विवाह के नियमों में दक्ष है तो उसकी सन्तान अवश्य निरोग और उत्तम होनी चाहिए। स्वस्थ्य सन्तानों से ही योद्धा, लेखक, शिल्पी, कवि और धुरंधर नेता निकलेगें। इस दृष्टि से

नवयुग की माता का कार्य बहुत ही महत्व का है।"[46] माँ के संसर्ग में न रहने वाले बच्चे विपरीत मार्ग पर चलने के लिए बाधित हो जाते हैं। आधे–अधूरे की छोटी लड़की किन्नी एक ऐसी ही पात्र है। पारिवारिक जिम्मेदारी के कारण सावित्री उसे ज्यादा समय नहीं दे पाती है, जिसके परिणामस्वरूप वह कम उम्र में ही सारी अश्लील बातें सीखनें लगती है, जो उसे नहीं सीखनी चाहिए। किन्नी जवाब देनी वाली, अवज्ञाकारी एवं बहुत ही जिद्दी किस्म की लड़की बन जाती है। जब वह बाहर से आती है घर के किसी भी सदस्य को ना पाकर घूमनें फिरनें पर ज्यादा ध्यान देनें लगती हैं, जिससे वह बहुत ही धृष्ट और लापरवाह हो जाती है। सावित्री के पूछनें पर वह खीज कर कहती है–

छोटी लड़की : कहीं भी चली गई थी। घर पर था कोई जिसके पास बैठती यहाँ? दूध गरम हुआ मेरा?

स्त्री : अभी हुआ जाता है।

छोटी लड़की : अभी हुआ जाता है। स्कूल में भूख लगे तो कोई पैसा नहीं होता पास में और घर में आनें पर दो घण्टा दूध ही नहीं होता गरम।

किन्नी अपनी उम्र की अपेक्षा वाचाल भी बहुत है। उसकी दृष्टि में छोटे–बड़े की कोई इज्जत नहीं है। वह अशोक के निठल्लेपन को स्पष्ट शब्दों में कहती है–

छोटी लड़की : जैसे शोकी मारा–मारा फिरता है सारा दिन, मैं भी फिरती रहा करूंगी।

बड़ी लड़की : (अपने को रोक पाने में असमर्थ) तुझे तमीज से बात करना नहीं आता? बड़ा भाई है वह तेरा।

छोटी लड़की : क्यों..... फिरता नहीं वह मारा–मारा सारा दिन?

बड़ी लड़की : किन्नी।

छोटी लड़की : तुम यहाँ थी, तो क्या कुछ कहा करती थी उसके बारे में? तुम्हारा भी तो बड़ा भाई है, चाहे एक ही साल बड़ा है, है तो बड़ा ही।

बड़ी लड़की : (स्त्री से) ममा, तुमनें इस लड़की की जुबान बहुत खोल दी है।''[47]

बड़ी लड़की बिन्नी भी घर में असहजता महसूस करती है, उसे जो एक माँ से मातृत्व, निजीपन मिलना चाहिए वह नहीं मिलता है। यही कारण है कि वह उबाऊ वातावरण से माँ के ही प्रेमी मनोज के साथ भाग जाती है। यह माँ के ही वो संस्कार होतें हैं, जो उसे स्त्रीत्व के रूप में प्राप्त होते हैं। बिन्नी को उचित संस्कार मिले ही नहीं होते हैं। इसी अभिज्ञता के कारण वह मनोज के साथ भी सुखी नहीं हो पाती है। परिणामतः माँ के पास फिर से आ जाती है। अशोक भी उस मातृत्व पूर्ण वातावरण से वंचित है, इसलिए माँ की प्रत्येक बात का विरोध करता है, जबकि सावित्री उसकी जिन्दगी के बारे में ही सोचती है। उसकी बेरोजगारी को दूर करने के लिए विभिन्न लोगों के सम्पर्क में आती है, परन्तु वह सभी का विरोध करता है। इसका मूल कारण माँ की आत्मीयता का न मिल पाना है। आज लोग आधुनिक हो गए है, वो अपनी भागदौड़ की जिन्दगी में बच्चों को समय नहीं दे पाते हैं, जबकि बच्चों को माँ का ही रख–रखाव चाहिए, परन्तु आधुनिक युग की सभी स्त्रियाँ एक जैसी

नहीं है, वो अपने बच्चों के भविष्य के प्रति चिन्तित भी है। वह भोगे हुए क्षणों या अनुभव से दिशा–निर्देश देती रहती है और आगे बढ़ने के लिए प्रेरित करती है। मोहन राकेश ने अपने नाटक 'आधे–अधूरे' नाटक में नकारात्मक पक्ष को उकेरा है, तो वहीं 'आषाढ़ का एक दिन' के माध्यम से भारतीय परम्परागत स्वरूप को भी। अम्बिका जीते जी अपनी बेटी मल्लिका का पालन–पोषण तो करती ही है और भविष्य की चिन्ता भी। क्योंकि अकेली अम्बिका ही होती है, जो उसकी देखभाल करती है। यह चिन्ता स्वाभाविक है कि उसके न रहने पर कौन जिम्मेदारी उठायेगा? इसलिए वह मल्लिका को जीवन साथी चुननें के लिए प्रेरित करती है। 'लहरों के राजहंस' की सुन्दरी पुत्रवती तो नही है, फिर भी वह श्यामांग, अलका, श्वेतांग आदि के प्रति मातृत्व स्नेह रखती है।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. गर्ग, डॉ0 संजय, स्त्री विमर्श का कालजयी इतिहास, सामयिक प्रकाशन, संस्करण 2014, पृ0सं0 19।
2. राकेश, मोहन, आषाढ़ का एक दिन, राजपाल एण्ड सन्ज प्रकाशन, संस्करण 2017, पृष्ठ सं0 37।
3. वही, पृष्ठ सं0 37।
4. वही, पृष्ठ सं0 93।
5. राकेश, मोहन, लहरों के राजहंस, राजकमल पेपरबैक्स, संस्करण 2020, पृ0सं0 60।
6. गुप्ता, रमणिका, स्त्री मुक्ति संघर्ष और इतिहास, सामयिक प्रकाशन, संस्करण 2022, पृ0सं0 10।
7. ठाकुर, गुप्ता, डॉ0 आभा, समय के निकष पर मोहन राकेश का रंगकर्म, विश्वविद्यालय प्रकाशन, प्रथम संस्करण 2008, पृ0सं0–88।
8. राकेश, मोहन, आषाढ़ का एक दिन, राजपाल एण्ड सन्ज प्रकाशन, संस्करण 2017, पृ0सं0 15।
9. वही, पृष्ठ सं0 14।
10. वही, पृष्ठ सं0 49।
11. वही, पृष्ठ सं0 72।
12. वही, पृष्ठ सं0– 71।
13. जैन, नेमिचन्द्र, मोहन राकेश के सम्पूर्ण नाटक, राजकमल एण्ड सन्ज प्रकाशन, संस्करण 2019, पृ0सं0 263।
14. राकेश, मोहन, आषाढ़ का एक दिन, राजकमल एण्ड सन्ज प्रकाशन, संस्करण 2017, पृ0सं0 14।

15.ठाकुर, गुप्ता, डॉ0 आभा, समय के निकष पर मोहन राकेश का रंगकर्म, विश्वविद्यालय प्रकाशन, प्रथम संस्करण 2008, पृ0सं0 85।
16.राकेश, मोहन, आषाढ़ का एक दिन, राजकमल एण्ड सन्ज प्रकाशन, संस्करण 2017 पृ0सं0 41।
17.वही, पृष्ठ सं0 93।
18.वही, पृष्ठ सं0 75।
19.वही, पृष्ठ सं0 37।
20.वही, पृष्ठ सं0 15।
21.वही, पृष्ठ सं0 16।
22.वही, पृष्ठ सं0 69।
23.राकेश, मोहन, लहरों के राजहंस, राजकमल पेपरबैक्स, संस्करण 2020, पृ0सं0 60।
24.वही, पृष्ठ सं0 78।
25.वही, पृष्ठ सं0 79।
26.वही, पृष्ठ सं0 110।
27.वही, पृष्ठ सं0 125।
28.वही, पृष्ठ सं0 128।
29.वही, पृष्ठ सं0 128।
30.जैन, नेमिचन्द्र, मोहन राकेश के सम्पूर्ण नाटक, राजकमल एण्ड सन्ज प्रकाशन, संस्करण 2019, पृ0सं0 288।
31.वही, पृष्ठ सं0 315।
32.वही, पृष्ठ सं0 315।
33.वही, पृष्ठ सं0 317।
34.वही, पृष्ठ सं0 323।

35.गर्ग, डॉ0 संजय, स्त्री विमर्श का कालजयी इतिहास, सामयिक प्रकाशन, संस्करण 2014, पृ0सं0 64।
36.गुप्ता, रमणिका, स्त्री मुक्ति संघर्ष और इतिहास, सामयिक प्रकाशन, संस्करण 2022, पृ0सं0 47।
37.राकेश, मोहन, आषाढ़ का एक दिन, राजकमल एण्ड सन्ज प्रकाशन, संस्करण 2017, पृ0सं0 49।
38.गर्ग, डॉ0 संजय, स्त्री विमर्श का कालजयी इतिहास, सामयिक प्रकाशन, संस्करण 2014, पृ0सं0 92।
39. गुप्ता, रमणिका, स्त्री मुक्ति संघर्ष और इतिहास, सामयिक प्रकाशन, संस्करण 2022, पृ0सं0 56।
40.मिश्र, उदयन, साहित्य में नारी चेतना, वाणी प्रकाशन, प्रथम संस्करण 2017, पृ0सं0 73।
41.गर्ग, डॉ0 संजय, स्त्री विमर्श का कालजयी इतिहास, सामयिक प्रकाशन, संस्करण 2014, पृ0सं0 66।
42.गर्ग, डॉ0 संजय, स्त्री विमर्श कालजयी इतिहास, सामयिक प्रकाशन, संस्करण 2014, पृ0सं0 28।
43.वही, पृष्ठ सं0 151।
44.जैन, नेमिचन्द्र, मोहन राकेश के सम्पूर्ण नाटक, राजकमल एण्ड सन्ज प्रकाशन, संस्करण 2019, पृ0सं0 264।

चतुर्थ अध्याय : शिल्पगत वैशिष्ट्य

(1) कथावस्तु–

मोहन राकेश के नाटक सिर्फ लेखक की ही नहीं, बल्कि सम्पूर्ण हिन्दी नाट्य साहित्य की उपलब्धि है। प्रस्तुत नाटक तीन अंको में विभक्त हैं। नाटक ऐतिहासिक हैं, परन्तु आधुनिक मानव के सम्पूर्ण यथार्थ जीवन को प्रस्तुत करता है। आषाढ़ का एक दिन नाटक के केन्द्रीय पात्र मल्लिका और इतिहास प्रसिद्ध महाकवि कालिदास है। कालिदास के माध्यम से लेखक ने वर्तमान साहित्यकार की दशा का वर्णन किया है। कालिदास की अर्न्तव्यथा आज के साहित्यकार की आन्तरिक व्यथा है। इस सन्दर्भ में मोहन राकेश का 'साहित्यकार की समस्याएँ' नामक लेख स्मरण हो जाता है, जिसमें राकेश जी एक साहित्यकार को महत्व देते हुए लिखतें हैं–''साहित्यकार की मूल समस्या है साहित्यकार के रूप में अपना व्यक्तित्व बनाए रखने की। साहित्यकार की आर्थिक स्वतन्त्रता और विचारों एवं मान्यताओं की दृष्टि से उसकी स्वतन्त्रता एक अहम् सवाल है अगर यह स्वतन्त्रता नहीं हैं तो लेखक का व्यक्तित्व कुण्ठित होता है, क्योंकि समझौतें अनिवार्य रूप से उसके व्यक्तित्व को तोड़तें हैं।''[1] मल्लिका नाटक की केन्द्र बिन्दु है और स्त्री वर्ग का प्रतिनिधित्व करती है, सम्पूर्ण नाटक की घटनाएँ उसी के इर्द–गिर्द घटित होती है। मल्लिका बेरोजगार कालिदास से प्रेम करती है, वह चाहती है कि कालिदास अपने जीवन में सफल कवि बने। अन्य पात्रों में अम्बिका जो कि मल्लिका की माँ है। वह यथार्थपूर्ण जीवन में ही विश्वास करती है और भावना में जीना इसको आक्रोशित करता है। विलोम भी ग्राम प्रांत का एक कुशल व्यावहारिक पात्र है। मातुल कालिदास के मामा है, यह सत्तालोभी और भौतिकवादी जीवन में विश्वास करते हैं। निक्षेप भी एक ग्राम प्रान्तीय है, जो कालिदास का

हितैषी है। स्त्री पात्रों में राजकुमारी प्रियंगुमंजरी कवि कालिदास की धार्मिक पत्नी है। रंगिनी, संगिणी, अनुस्वार, अनुनासिक, राजपुरुष दन्तुल आदि पात्र भी हैं।

'आषाढ़ का एक दिन' नाटक का आरम्भ मूसलाधार बारिश आषाढ़ के प्रथम दिन से होता है, मेघ गर्जन और काले बादल छाए रहते हैं। मल्लिका पर्वत मालाओं से भीगकर घर वापस आती है। अम्बिका छाज में धान फटक रही होती है मल्लिका अम्बिका के पास पहुँचकर कहती है, देखो माँ मैं कैसे भीग गई हूँ। अम्बिका अपने काम में व्यस्त रहती है, क्योंकि अम्बिका को पता चल जाता है कि वह कालिदास के साथ भीगकर आई है। अम्बिका कालिदास के स्वभाव और चरित्र को पसन्द नहीं करती हैं विडम्बना यह है कि उसकी पुत्री मल्लिका उसी बेरोजगार कालिदास से प्रेम करती है। वह अपने प्रेम को बयाँ करते हुए अम्बिका से कहती है–''मैंने भावना में भावना का वरण किया है। मेरे लिए वह सम्बन्ध और सब सम्बन्धों से बड़ा है। मैं वास्तव में अपनी भावना से प्रेम करती हूँ, जो पवित्र है, कोमल है, अनश्वर है।''[2] मल्लिका चाहती है कि उसका प्रेमी समृद्धि को प्राप्त हो और इसके लिए वह अपना सर्वस्व त्याग देती है। अपने भावनात्मक कोमल मन में यह भाव रखती है कि वह कालिदास को महाकवि के रूप में देखे। उसी बीच उज्जयिनी के कुछ राज्य कर्मचारी आतें हैं और बतातें हैं कि उज्जयिनी महाराज कालिदास को राजकवि का सम्मान देना चाहते हैं, मल्लिका खुशी से फूले नहीं समाती है, परन्तु कालिदास के तैयार न होने पर मल्लिका उसे बार–बार समझाती है तो वह कहता है ''मैं राजकीय मुद्राओं से क्रीत होने के लिए नहीं हूँ।''[3] मल्लिका पुनः समझातें हुए उससे कहती है ''यहाँ ग्राम प्रान्तर में रहकर तुम्हारी प्रतिभा को विकसित होनें का अवसर कहाँ मिलेगा? यहाँ लोग

समझ नहीं पातें हैं।''[4] कालिदास को बात समझ में आती है और वह जाने को तैयार हो जाता है।

घर की स्थिति कुछ वर्षो के अन्तराल में बदलनें लगती है। अम्बिका का स्वास्थ्य कम ठीक रहता है, उसके स्थान पर अब मल्लिका घर का काम–काज करती है। कालिदास उज्जयिनी में रहकर, 'कुमारसम्भव', 'मेघदूत' आदि महाकाव्यों की रचना करते हैं और वहीं राजदुहिता प्रियंगुमंजरी से विवाह कर लेतें हैं। कुछ समय पश्चात् कालिदास का आगमन ग्राम में होता है, पूरा गाँव सजाया जाता है और एक उत्सव की भाँति मनाया जाता है। मल्लिका भी बहुत खुश रहती है। विलोम भी अपने मित्र से मिलने के लिए इन्तजार करता है। रंगिनी, संगिनी का आगमन होता है। अनुस्वार और अनुनासिक वहाँ की व्यवस्था को ठीक करने आतें हैं। तब महारानी प्रियंगुमंजरी का आगमन होता है। वह मल्लिका की सुन्दरता और सादगी को देखकर आश्चर्य चकित हो जाती है। इतनी समस्याओं के बाद भी कालिदास के ग्रन्थों को मंगाकर पढ़ना, प्रियंगुमंजरी को यकीन ही नहीं होता है। कालिदास उज्जयिनी में रहते हुए कभी–कभी बहुत उदास हो जाया करते हैं, इसीलिए प्रियंगुमंजरी ग्राम का कुछ वातावरण अपने साथ ले जाना चाहती है, वह कहती है–''कुछ हरिणशावक जाएंगे, जिनका हम अपने उद्यान में पालन करेंगे। यहाँ की कुछ औषधियाँ उद्यान के क्रीड़ा शैल पर तथा आस–पास के प्रदेश में लगवा दी जाएंगी।''[5] वह मातुल के घर के साथ–साथ मल्लिका के घर का भी परिसंस्कार करवाना चाहती है और वहीं के किसी राज्याधिकारी से मल्लिका का विवाह कराना चाहती है, परन्तु मल्लिका दोनों उपकारों को बहुत ही विनम्र भाव से मना कर देती है। अपनी पुत्री की इस दशा को देखकर अम्बिका का मातृत्व आक्रोश में परिवर्तित हो जाता है। वह कहती

है–''लो मेघदूत की पंक्तियाँ पढ़ो। इन्हीं में न कहती थी, उसके अन्तर की कोमलता साकार हो उठी है। आज वह इस कोमलता का और भी साकार रूप देख लिया? आज वह तुम्हें तुम्हारी भावना का मूल्य देना चाहती है, तो क्यों नहीं स्वीकार कर लेती। घर की भित्तियों का परिसंस्कार हो जाएगा और तुम उनके यहाँ परिचारिका बनकर रह सकोगी इससे बड़ा और क्या सौभाग्य तुम्हें चाहिए?''[6] कालिदास मल्लिका से मिलनें नहीं आता है, क्योंकि कालिदास कई मूक प्रश्नों से बचना चाहता था। घोड़े के टापों का स्वर पास से होकर गुजर जाता है। कालिदास के चले जानें से मल्लिका स्तब्ध सी रह जाती है और करूणा से भरा हृदय एक बार अपनी माँ के वक्षस्थल से लिपटनें को मजबूर हो जाता है।

कई वर्षो के अन्तराल मल्लिका अब अकेली रह जाती है, घर काफी जर्जर हो चुका होता है। बारिश हो रही होती है, इसलिए मातुल आश्रय हेतु माल्लिका के घर ठहर जातें हैं, मातुल पहले की अपेक्षा अब भौतिकवादी नहीं हैं। उसका मोह अब राज्य की ओर से हटकर अपने गाँव की प्रकृति की गोद में लग चुका है। वह कहता है–"राज प्रासाद में रहने से अधिक कष्टकर स्थिति संसार में हो ही नहीं सकती..... और उससे भी कष्टकर स्थिति यह थी कि जिन व्यक्तियों को देखकर मेरा हृदय आदर से सिर झुकानें का मन करता था, वे मेरे सामने सिर झुका देते थें। मेरे सामनें .....।"[7] मातुल ही मल्लिका को समाचार देता है कि कालिदास ने सन्यास ग्रहण कर लिया है। उसका हृदय उस सत्य को स्वीकार नहीं कर पाता है और द्रवीभूत होकर आसन पर रखे ग्रन्थ को उठाकर वक्ष से लगाते हुए कहती है "मैं यद्यपि तुम्हारे जीवन में नहीं रही, परन्तु तुम मेरे जीवन में सदा बनें रहे हो। मैंने कभी तुम्हें अपने से दूर नहीं किया। तुम रचना करते रहे और मैं समझती रही कि मैं सार्थक हूँ, मेरे जीवन की भी

कुछ उपलब्धि है।"[8] मल्लिका का अन्तर्द्वन्द्व और भी तेज हो जाता है, वह स्वयं से ही कहती है 'नहीं तुम काशी नहीं गए', न ही तुमनें सन्यास लिया है। मैंने इसलिए तुमको यहां से जानें को नहीं कहा था। सिसकियाँ भरते हुए भावावेश को सम्भालती हुये कहती है–"तुम जीवन में तटस्थ हो सकते हो, परन्तु मैं नहीं हो सकती। क्या जीवन को तुम मेरी दृष्टि देख सकते हो ? जानते हो मेरे जीवन के ये वर्ष कैसे व्यतीत हुए हैं? मैंने क्या–क्या देखा है ? क्या से क्या हुई?"[9] तभी सहसा उसकी नजर दरवाजे पर पड़ती है, वह कालिदास को देखकर आवाक हो जाती है। मल्लिका को यह किसी स्वप्न से कम नहीं लगता है, वह कालिदास को आसन देती है और कालिदास यह अनुभव करता है कि सब कुछ बदल चुका है। कई वर्षो से उठ रहे कालिदास के मन का अन्तर्द्वन्द्व मल्लिका के समक्ष खुलता है, वह विवश होकर मल्लिका से बताता है कि मुझे मान–सम्मान, धन–दौलत सब कुछ मिला, परन्तु वह खुशी नहीं मिल पायी जो मुझे इस प्राकृतिक वातावरण में मिलता था। वह अपने आपको समझाता रहा कि आज नहीं तो कल, सब ठीक हो जायेगा, परन्तु वह समय कभी नहीं आया। कालिदास विखरता गया और एक दिन ऐसा आया कि वह पूरी तरह से टूट गया है। तभी एक बच्चे के रोने की आवाज आती है, तब कालिदास को यह समझ में आ जाता है कि समय कभी किसी का इन्तजार नहीं करता है और उठ कर उसी मूसलाधर बारिश में निकल जाता है। मल्लिका बच्ची को लेकर बाहर आती है, परन्तु कदम आगे नहीं बढ़ा पाती है और बच्ची को वक्ष से लगाकर सिसकियाँ भरते हुए बच्ची को चूमनें लगती है।

"लहरों के राजहंस" मोहन राकेश की दूसरी नाट्यकृति है, इस नाटक में तीन हीं अंक हैं। कथानक ऐतिहासिक है फिर भी लेखक ने

पात्रों के माध्यम से आधुनिकता व्यक्त की है। इस नाटक के पात्रों का स्वभाव और राकेश जी का स्वभाव मिलता जुलता है। नाटक की कथा अश्वघोष के सौन्दरनन्द काव्य से लिया गया है।

प्रमुख पात्र नन्द और इनकी पत्नी सुन्दरी है। दोनों पात्र ऐतिहासिक है, परन्तु आज के सन्दर्भ में नितान्त आधुनिक है, क्योंकि इनके चरित्र में आज के मानव मन की बेचैनी, छटपटाहट, विवशता, मानसिक एवं आन्तरिक द्वन्द्व व्यक्त होता है। स्वयं राकेश जी कहते हैं कि "नन्द और सुन्दरी की कथा एक आश्रय मात्र है, क्योंकि मुझे लगा कि इसे समय में परिप्रेक्षित किया जा सकता है। नाटक का मूल अन्तर्द्वन्द्व उस अर्थ में यहाँ भी आधुनिक है जिस अर्थ में 'आषाढ़ का एक दिन' के अन्तर्गत।"[10] जिस समय यह नाटक राकेश जी ने लिखा था, उस समय राकेश जी की मानसिक और आन्तरिक स्थिति सन्तुलित नहीं थी। यह मात्र ग्यारह दिन में लिखा गया नाटक था। इसमें पात्रों की संख्या बहुत कम है। नन्द और सुन्दरी के अलावा अलका, श्वेतांग, श्यामांग, आर्य मैत्रेय आदि मंच पर उपस्थिति होते हैं। इस सन्दर्भ में डॉ0 शोभा चतुर्वेदी कहती हैं–"नाटक का कथानक इतना संक्षिप्त है कि नाटककार को उसे पल्लिवित करने के लिए अतिरिक्त श्रम करना पड़ता है। प्रायः पात्रों के एक युग्म के बाद दूसरा युग्म कथानक को आगे बढ़ाता है। उन्हीं से स्थितियाँ बनती और आगे बढ़ती है और इस प्रकार एक के बाद दूसरी स्थितियाँ आ जुड़ती है और कथानक उनका योग बन जाता है।"[11]

नाटक का प्रारम्भ सुन्दरी के कामोत्सव की तैयारी के साथ होता है और वह चाहती है कि यह उत्सव ऐसा होना चाहिए जिसे न पहले लोगों ने देखा हो और न ही सुना हो। यह नाटक की केन्द्रीय पात्र है और अपने सौन्दर्य पर गर्व करती है और उसका यह मानना है कि स्त्रियों का सौन्दर्य

ही पुरुषों को अपने मोहपाश में बाँध सकता है। यही कारण है कि वह महारानी 'यशोधरा' के वैवाहिक जीवन को असफल होनें का कारण रूपपाश ही मानती है। वह अलका से कहती है कि "नारी का आकर्षण पुरुष को पुरुष बनाता है, तो उसका अपकर्षण उसे गौतम बुद्ध बना देता है।"[12] पहला अंक सुन्दरी के रूप गर्व और उत्सव की तैयारी में ही लगा रहता है। उसके आगे नन्द का व्यक्तित्व और अस्तित्व भी साधारण सा लगता है और पत्नी के उत्सव में कोई बाधा न उत्पन्न हो इसलिए वह भी आयोजन में लगा रहता है। अनुचरी, सखी अलका श्यामांग से प्रेम करती है, सुन्दरी के पूछे जाने पर वह भली भाँति स्पष्ट शब्दों में बताती है। इसी अंक में एकतरफ उत्सव का आयोजन हो रहा है, तो दूसरी तरफ महारानी यशोधरा के दीक्षांत समारोह का। अलका द्वारा यह पूछे जाने पर कि आज महारानी 'यशोधरा' बौद्ध भिक्षुणी बन जाएंगी, तो वो इस वेश में कैसी लगेंगी। सुन्दरी व्यंग्य करते हुए कहती है कि "देवी यशोधरा का आकर्षण यदि राजकुमार सिद्धार्थ को बाँध सकता, तो क्या आज भी वे राजकुमार सिद्धार्थ ही न होते।"[13] सुन्दरी के उत्सव में आर्य मैत्रेय को छोड़कर कोई नहीं आता है, तो वह आर्य मैत्रेय के सामने यह घोषणा करती है कि उन अतिथियों को मेरे यहाँ आने की जरूरत नहीं, जो कल की प्रतिक्षा कर रहे हैं। वह कल उन लोगों के लिए कभी नही आएगा। वह बहुत परेशान हो जाती है नन्द उसे मानना चाहते हैं, परन्तु वह नहीं मानती। दूसरा अंक प्रारम्भ होता है। नन्द पिछली रात से द्वन्द्व में होनें के कारण पूरी रात सो नहीं पायें हैं। उधर श्यामांग को ज्वर तेज होने से उसका स्वर प्रलाप भी तेज हो जाता है। सुन्दरी को जब यह पता चलता है कि उसकी वजह से नन्द पूरी रात सो नहीं पाया है, तो वह क्षमा मांगती है। जिसकी वाक्चातुर्य पर मुग्ध होकर नन्द कहता है कि "मैं किस पर अधिक मुग्ध

हूँ–तुम्हारी चतुराई या सुन्दरता पर।"[14] तभी सहसा बौद्ध भिक्षुओं की आवाज सुनाई देती है, जिससे नन्द विचलित हो जाता है अलका का आगमन होता है और यह सूचना देती है कि स्वयं (गौतम बुद्ध) द्वार पर भिक्षा हेतु पधारे थे, परन्तु किसी के न निकलनें पर चले गए। सुन्दरी नन्द को क्षमायाचना के लिए भेजती है और यहीं पर नाटक का दूसरा अंक समाप्त हो जाता है। अगला अंक प्रारम्भ होता है काफी रात बीत जाती है, परन्तु नन्द वापस नहीं आतें हैं और उधर तालाब से हंस भी पलायन कर जातें हैं। अलका को शक हो जाता है। श्वेतांग यह सूचना लातें हैं कि "उन्हें बौद्ध धर्म का उपदेश न देकर तथागत ने भिक्षु से कहा कि वे कुमार को दीक्षित कर दें। कुमार ने विरोध किया, परन्तु उनके ऊपर आरोप लगाया गया कि वे कामासक्त है और उनके केश काट दिए गए।"[15] तभी नन्द का आगमन होता है वह आन्तरिक द्वन्द्व के साथ अनेक सवालों में घिरा हुआ है। नन्द ने केश कटवा दिये थे, फिर भी वह सोचता है कि केश ही तो कटे है फिर से आ जाएंगे, परन्तु सुन्दरी देखते ही नन्द को चीख पड़ती है और कहती है "लौटकर वे नहीं आयें। जो आया है, वह व्यक्ति कोई दूसरा है।"[16] सुन्दरी को विश्वास नहीं होता है, परन्तु नन्द विश्वास दिलाते हुए कहता है " मेरे हृदय में तुम्हारे लिए अब भी वही अनुराग है, आँखो में तुम्हारे रूप की अब भी वही छाया है।"[17] परन्तु सुन्दरी का हृदय यह स्वीकार नहीं कर पाता है, जिससे नन्द और उलझन में पड़ जाता है कि थोड़ा अपरूप होनें से मैं 'दूसरा व्यक्ति' कैसे बन गया। अन्दर के आवेग से रूँधकर और हताश दृष्टि से सुन्दरी को देखता है फिर आहत भाव से सामनें के दरवाजे से चला जाता है। सुन्दरी नन्द के जाने तक किसी प्रकार अपने को सम्भाले रहती है, परन्तु सिसकियों को हथेली से ढ़क लेती है और नाटक यही समाप्त हो जाता है।

आधे–अधूरे मोहन राकेश जी का तीसरा नाटक है। यह आधुनिक मानव के जीवन का एक प्रकार से जीवंत दस्तावेज है। इस नाटक की सर्जनात्मक क्षमता राकेश जी के अन्वेषण प्रवृत्ति को दर्शाती है। यही कारण है कि समकालीन नाटकों में यह सर्वथा भिन्न है और यह भिन्नता नाटक के कथावस्तु से लेकर विभिन्न अंगो तक है। इस सन्दर्भ में गिरीश रस्तोगी जी कहती हैं "मैं इसे आडम्बरहीन नाटक की संज्ञा देना ही अधिक उचित समझूँगी क्योंकि इसमें आडम्बर न कथानक और घटनाओं का है, न भाषा और अभिव्यक्ति का, न शैली और शिल्प का, न पात्र बहुत है, न स्थितियाँ ही बहुत है और रंगमंच भी साधारण सुविधाजनक दृश्य बन्ध की माँग करता है।"[18] इन्हीं विशेषताओं के कारण ही मोहन राकेश का यह नाटक बहुत चर्चित रहा है। यह पूर्णतया आधुनिक पीड़ा, आर्थिक एवं पारिवारिक आदि समस्याओं को अभिव्यक्त करता है। लेखक ने एक ही पुरुष में कई चरित्रों को एक साथ प्रस्तुत किया है। कालेसूट वाला आदमी जो कि उन्चास–पचास की अवस्था तक है जो पुरुष एक, पुरुष दो, पुरुष तीन, और पुरुष चार की भूमिका निभाता है। पुरुष एक के रूप में महेन्द्रनाथ समक्ष आता हैं। पुरुष तीन के रूप में जगमोहन, तो वहीं पुरुष चार के रूप में जुनेजा का चरित्र सामनें आता है। इन पात्रों के आलावा एक स्त्री भी है, जो सावित्री का किरदार निभाती है। सावित्री की उम्र लगभग चालीस के आस–पास है फिर भी तन से यौवन की चमक आती है। वह एक साधारण साड़ी में मंच पर उपस्थित होती है, दूसरी साड़ी विशेष अवसर के लिए रखी है। बड़ी लड़की बीस के आस–पास है, परन्तु पूरे चरित्र में एक बिखराब दिखता है, जिसको समेटनें की कोशिश में तत्पर है। कभी–कभी वह अपनी उम्र से बड़चड़ कर बातें करती है स्वभाव में उतावलापन एवं अवसाद झलकता रहता है। छोटी लड़की किन्नी स्वभाव

से बहुत धृष्ट है और चिढचिढ़ी भी। बड़ा लड़का भी बीस–इक्कीस की अवस्था में है और निठल्लेपन का शिकार है।

नाटक का प्रारम्भ एक मध्यवर्गीय शिक्षित परिवार से होता है। महेन्द्रनाथ व्यक्तिगत रूप से बात करता हुआ स्वयं से ही पूछँता है कि 'मैं कौन हूँ ? तथा सावित्री दफ्तर से थकी हुई गृह प्रवेश करती है और घर में कोई नहीं होता है। सावित्री एक आत्मनिर्भर स्त्री है। पति बेरोजगार होनें के कारण परिवार की जिम्मेदारी वह स्वयं वहन करती है। बड़ा लड़का काम करने वाला है, परन्तु वह पूरा दिन अश्लील फोटो काटने मे व्यस्त रहता है, जब भी सावित्री दफ्तर से घर आती है तो घर अव्यवस्थित पड़ा रहता है, जिससे उसका स्वभाव चिड़चिड़ा होनें लगता है। सभी पात्र अपनी–अपनी मर्जी के ही कार्य कर रहें हैं। बड़ी लड़की माँ के ही प्रेमी मनोज के साथ भाग जाती है। पूरा परिवार बिखरा हुआ है। इस बिखरनें का कारण आर्थिक समस्या ही नहीं, बल्कि अन्य कारण भी हैं। पति पहले वर्षो में व्यवसाय से हाथ धो बैठा और पूरी तरह से सावित्री पर ही निर्भर हो जाता है। यही कारण है कि अन्दर ही अन्दर आत्मिक रूप से दुर्बल होता जाता है, मन झल्लाता रहता है फिर भी तेज आवाज में किसी से बात नहीं कर सकता। महेन्द्र ही नहीं, बल्कि सावित्री भी परिस्थितिवश स्वभाव से बहुत मजबूर हो गई है। वह पति महेन्द्र से नफरत करने लगती है फिर भी एक साथ रहने के लिए मजबूर हो जाती है। महेन्द्र के पास जब तक पैसा था, सावित्री को वह परिपूर्ण लगता था, परन्तु जब वह खाली हाथ हुआ तो उसे उसमें अधूरापन, लिजलिजा एवं चिपचिपन लगनें लगा, वह जुनेजा से कहती है "आदमी होनें के लिए क्या यह बात जरूरी नहीं कि उसमें अपना एक मांदा हो, अपनी एक शख्सियत हो?..... जब से मैंने उसे जाना, हमेशा हर चीज के लिए उसे किसी न किसी का

सहारा ढूढ़ते पाया। यही नहीं, वह खुद एक आदमी का आधा चौथाई भी नहीं है।"[19] सावित्री यही चाहती है कि उसका पति आत्मनिर्भर रहे, किसी के इशारे पर न नाचें। यही कारण है कि सावित्री को महेन्द्र पसन्द नहीं आता है और वह प्रतिदिन उससे कटती चली जाती है। वह अपने अधूरेपन को भरने के लिए सिंघानिया, जुनेजा, जगमोहन और मनोज से आशा रखती है कि उसमें पुरुषत्व का पूर्णरूप देखनें को मिलेगा, परन्तु ऐसा होता नहीं है यही कारण है कि वह बची–खुची जिन्दगी अपने तरीके से जीना चाहती है। वह घर की जिम्मेदारियों से भी परेशान है। बड़ी लड़की विवाहित होते हुए भी सुखी नहीं है, मनोज और उससे मनमुटाव के कारण अपनी ममा के पास आ जाती है। बिन्नी सहानुभूति चाहती है, वह स्वाभाविक रूप से जीना चाहती है। अशोक भी अपने पिता महेन्द्रनाथ की तरह कुछ नहीं करना चाहता। गम्भीर कामों में उसका मन नहीं लगता है। ऐसा भी नहीं है कि उसका कोई काम करने का मन नहीं करता है, परन्तु वह 'वही' काम नहीं कर सकता। अशोक की बेरोजगारी को देखते हुए उसकी माँ नौकरी के लिए सिंघानिया साहब से बात करती है, परन्तु अशोक को ममा का बॉस ही पसन्द नहीं आता। वह कहता है "तुम्हारा बॉस न होता तो उस दिन मैं कान पकड़कर घर से निकाल दिया होता। पाँच हजार पाने वाला बॉस हुआ तो क्या? आदमी तो नहीं लगता, न बैठनें का शऊर, न बात करने का।"[20] इस हरकत से सावित्री को यह अहसास होता है कि दिन रात जिसके लिए मरती हूँ उसको मेरी कोई जरूरत नहीं और यह निश्चय करती है कि आज से खुद तुम लोग अपनी–अपनी जिम्मेदारी उठाओं और रुँधे हुए स्वर में कहती है "मेरे करने से जो कुछ हो सकता था इस घर का, हो चुका आज तक, मेरी तरफ से अब अन्त है। उसका निश्चित अन्त।"[21] यह नाटक समकालीन जिन्दगी का जीता

जागता उदाहरण है। इस सन्दर्भ में गिरीश रस्तोगी लिखती हैं–"व्यापक रूप से टूटतें–निखरतें, बिगड़तें–उलझतें मानवीय सम्बन्धों की जटिलता का नाटक कह सकतें हैं। जहाँ पर हर व्यक्ति अपूर्ण है और सम्पूर्णता की खोज में भटक रहा है।"[22]

'पैरों तले की जमीन' मोहन राकेश की यह तीसरी नाट्य कृति है। प्रस्तुत नाटक आधुनिक मानव की त्रासदी एवं यथार्थवादी धरातल पर लिखा गया अप्रतिम नाटक है। जिस तरह पिछले नाटकों का उद्देश्य आधुनिक मानव था, ठीक वैसे ही यह नाटक भी। इस नाटक में मानवीय सम्बन्धों में बन्धें होनें के बावजूद मूल्यहीनता, ईर्ष्या, द्वेष, कुण्ठा, विकृतियाँ जैसी मनःस्थितियाँ उभर कर सामनें आती हैं। इस नाटक के केन्द्रीय पात्र अयूब एवं सलमा हैं। ये दोनों पति–पत्नी होनें के बावजूद एक दूसरे को समझ नहीं पातें हैं। अन्य पात्रों में अब्दुल्ला, पण्डित, झुनझुनवाला, नियामत, नीरा, रीता आदि सहायक पात्र हैं। प्रतिभा अग्रवाल कहती हैं–'पैरों तले की जमीन' आधुनिक जीवन की विसंगति, अवसाद एवं घुटन को लेकर लिखा गया नाटक है।"[23] प्रस्तुत नाटक का प्रारम्भ कश्मीर के एक टूरिस्ट क्लब से होता है। पात्रों की मानसिकता बिल्कुल अलग–अलग होने पर आज प्रकृति ने उन्हें एक स्थान पर रहने के लिए मजबूर कर दिया। पानी ज्यादा होने की वजह से पुल अचानक टूटनें लगता है और उन पात्रों का सम्पर्क बाहर से बन्द हो जाता है। पात्रों की मृत्यु सम्बन्धी भय राकेश जी ने बड़े वैज्ञानिक ढ़ंग से प्रस्तुत किया है। अब्दुल्ला इस क्लब का क्लर्क होता है। इस क्लब में लोग अपने मनोरंजन के लिए आते रहते हैं। इसी उद्देश्य के लिए आए अयूब, सलमा, पण्डित, नियामत, झुनझुन वाला आदि पात्र भी क्लब में फँस जाते हैं। सबसे बड़ी बात तो बाहर निकलनें के लिए और कोई रास्ता नहीं होता है। पुल की दरार

बढ़नें के कारण पानी का बहाव तेज हो जाता है। बिजली चमकती है और लाइट चली जाती है। बाहरी लोगों से बातचीत करने का एक ही रास्ता था टेलीफोन, उसका भी रास्ता साफ हो गया। अब्दुल्ला और चपरासी नियामत क्लब की देखभाल करते हुए जल्दी–जल्दी खिडकियाँ एवं दरवाजे बन्द कर देते हैं। पण्डित और झुनझुन अपने ताश के खेल में ही बिजी रहता है, उन दोनों के लिए इतनी बड़ी घटना कोई मायनें नहीं रखती। नीता और रीता टेबल टेनिस खेल रही होती हैं। स्थिति भयावह होते देख अब्दुल्ला हिसाब–किताब करने लगता है। अयुब और सलमा भी दोनों इसी क्लब में फँस जाते हैं। पात्रों को यह विश्वास हो जाता है कि मृत्यु निश्चित है, जिससे सभी पात्र अपनी अन्तिम इच्छा की पूर्ति के लिए जुट जाते हैं और सभी नियति को सत्य मानते हुए अपने–अपने सारे भ्रष्टाचार खोल देतें हैं। पण्डित अपनी ऊबाऊ भरी अतीत जिन्दगी से घबराकर ताश दूर फेक देता है और अपने मन की सारी भडास झुनझुन के समक्ष प्रकट कर देता है। उसकी पत्नी झुनझुन से अनैतिक सम्बन्ध रखती है, यह बात पण्डित अच्छी तरह से जानता है, परन्तु बोल नहीं पाता है। अपने निकम्मेंपन का अहसास करता हुआ वह कहता है "मेरी आज तक की जिन्दगी एक नपुंसक आदमी की जिन्दगी नहीं रही? रही है! किसलिए? सिर्फ जिन्दा रह सकनें के लिए। इस दौर में मैं खुद अपने आप बनकर अपने लिए नहीं रह पाया..... मैं एक साया बनकर रह गया हूँ जो कभी इससे कभी उससे चिपक जाना चाहता था।"[24] झुनझुन को भी अपने भ्रष्टाचार के दिन याद आते हैं, मृत्यु को इतने पास देखकर भयभीत होता है। बाढ़ के इस प्रकोप से भयभीत अब्दुल्ला मरने से पहले अपने नवजात शिशु को देखना चाहता है, यही भय नियामत को भी सताता है और वह अपनी दादी माँ के दर्शन करना चाहता है। तभी अचानक यह

पता चलता है पुल पूरी तरह टूट रहा है। डॉ0 से मिलने अयूब आता है यह विवाह से पूर्व सलमा का प्रेमी है, इसीलिए अयूब को सलमा पर हमेशा शक रहता है, जिसके कारण वह अपनी पत्नी पर कभी विश्वास नहीं कर पाता है। तब तक रीता, नीरा को खोजती हुई टूरिस्ट में लोगों के पास पहुँच जाती है और वहाँ अयूब को देखकर मन ही मन भयभीत हो जाती है। अयूब रीता से अपने कुण्ठा की पूर्ति अनैतिक रूप से करना चाहता है। इसके लिए प्रयासरत रहता है और रीता से मार भी खाता है। इसीलिए शायद अयूब अपनी पत्नी सलमा और रीता में कोई अन्तर नहीं समझता है, उसे एक कब्रिस्तान जैसी दिखती हैं। तभी डरी सहमी रोती हुई नीरा का प्रवेश होता है, नीरा स्वभाव से कोमल और भोली लड़की है, जिसकी उम्र कम है। अयूब शराब के नशे में अपनी हवस का शिकार रीता को तो बनाता ही है, नीरा को भी बनाना चाहता है। वह अयूब को देखकर काफी डर जाती है और कहती है– "मुझे बहुत डर लग रहा है दीदी..... तुमसे भी (कहते हुए वह अयूब की ओर फटी–फटी आँखों से देखती है और एकदम चीख पड़ती है) इस दरिन्दे से दीदी.....।"[25] इस नाटक के सभी पात्र कुण्ठा एवं द्वन्द्व से ग्रस्त है। मृत्यु को इतने करीब से देखकर सभी अपनी–अपनी पोल खोल देते हैं। कोई जीना चाहता है, तो कोई मृत्यु से नहीं डरता है, कोई आयी हुयी मुसीबत का विश्लेषण करता है, तो कोई भोगे हुए सुख के क्षणों को याद करता है। झुनझुन एक ऐसा भ्रष्टाचारी पुरुष है, जो वह औरत को सिर्फ एक वस्तु समझता है, निहायत एक वस्तु। वह दोस्तों, सगे सम्बन्धियों किसी को भी नहीं छोड़ता है। वह कहता है–"मैंने पैसों का पेड़ लगाकर देखा था..... वे खूब फले–फूले। जब पेड़ फूल से अलग हो गए तो मैंने धर्म नैतिकता, विज्ञान, राजनीति सबको अपने मूल्य दिए..... मूल्य (हँसता है) सीधे–सीधे कहूँ तो सबको

अपना व्यापार बनाया।..... मैं आज तक सैकडों जवान लड़कियों के साथ. ..... उनकी मर्जी से नहीं, अपनी मर्जी से। मैनें सैकड़ों कत्ल कराए। करोडों का माल स्मगल किया। लाखों रूपये रिश्वत में दिए, करोड़ों का टैक्स बचाकर धन जमा किया।"[26] क्लर्क अब्दुल्ला भी व्याभिचारी है, वह सन्तानोत्पत्ति के लिए चार विवाह कर चुका है और पुत्र प्राप्ति पर बहुत खुश रहता है। अयूब भी अपनी अधूरी इच्छा पूरी करना चाहता है और पण्डित को भी इस बात का दुःख रहता है कि उसकी ही पत्नी उसका कहना न मानकर पर पुरुष से सम्बन्ध बनाती है। सलमा, रीता, नीरा आदि स्त्री पात्र भी अपने अस्तित्व के लिए भटक रही है, फिर भी इस पुरुष समाज की गन्दगी से बच नहीं पाती हैं। सलमा पुत्र के जन्म के बाद भी विश्वास और प्रेम के तौर पर कभी अयूब को जीत नहीं पाती है। नाटककार का उद्देश्य स्पष्ट है आधुनिक युग की बढ़ती सुख सुविधाओं के साथ–साथ मानव जाति के उन कुकृत्यों को भी उजागर करने से पीछे नहीं हटता, जिस पर हमेशा से ही पर्दा पड़ा रहता है। थोड़ी देर बाद बाहर से टॉर्च की रोशनी दिखती है, बाढ़ का पानी कम हो जाता है। उन्हीं पात्रों में फिर से वही लालसाएँ जन्म लेनें लगती हैं और अन्ततः मौत के भय से सभी पात्र बाहर निकल जाते हैं। नाटक यही पर समाप्त हो जाता है। इस नाटक के सन्दर्भ में जयदेव तनेजा कहते हैं कि–"यह तमाम नैतिकता, वर्जनाओं, तमाम धर्मों और दूसरी हर चीज के मूल्य के बारे में शंका प्रकट करता है।"[27]

(2) पात्र–योजना–

मोहन राकेश के नाटक 'आषाढ़ का एक दिन', 'लहरों के राजहंस,' 'आधे–अधूरे,' 'पैरों तले की जमीन' (अपूर्ण) सभी पात्र–योजना की दृष्टि से सफल है। प्रत्येक नाटक के प्रत्येक पात्र समाज के किसी न किसी वर्ग

का प्रतिनिधित्व कर रहे हैं। 'आषाढ़ का एक दिन' में 'नाटक' सभी अंगों की दृष्टि से पूर्णतः सफल रहा हैं। लेखक ने पात्र–योजना की सीमित कल्पना की है। प्रमुख पात्र मल्लिका नाटक के प्रत्येक पात्रों से बिल्कुल अलग है। नायिका कालिदास से भावनात्मक प्रेम करती है। अन्य स्त्री पात्रों में अम्बिका, प्रियंगुमंजरी, रंगिणी, संगिनी आदि राज्य अधिकारी पात्र है। पुरुष वर्ग में कवि कालिदास, विलोम, मातुल, निक्षेप, अनुस्वार, अनुनासिक और राजपुरुष दन्तुल विशेष रूप से अपना योगदान देतें हैं। प्रस्तुत सभी पात्रों का चरित्र बहुआयामी है। वे किसी सामाजिक परिपाटी या सीमा में बन्धे हुए नहीं है। मल्लिका के माध्यम से मोहन राकेश ने स्त्री के सशक्त, दृढ़निश्चयी, सहृदय एवं प्रेरणा स्त्रोत पात्र का निर्माण किया है। मल्लिका एक ओर समाज में अपवादित थी, तो वहीं मिशाल भी। कितने आक्षेप सहने के बाद भी वह किसी को भी अपने व्यक्तिगत जीवन में प्रवेश के लिए अनुमति नहीं देती है। विवाह एक ऐसी परम्परा है, जहाँ स्त्री को झुकना ही पड़ता है, परन्तु मल्लिका निर्भीक होकर अपने साहस का परिचय देते हुए और ग्राम प्रान्त की परवाह किये बिना ही यह घोषणा करती है कि–''क्या अधिकार है उन्हें कुछ भी कहने का ? मल्लिका का जीवन उसकी अपनी सम्पत्ति है। वह उसे नष्ट करना चाहती है, तो किसी को उस पर आलोचना करने का क्या अधिकार है ?''[28] यहाँ पर लेखक ने मल्लिका के माध्यम से एक सरल एवं निर्भीक स्त्री की घोषणा की है, तो वहीं तीसरे अंक में स्त्री के असहाय एवं निर्बल होने का एहसास कराने से भी नहीं चूके हैं, क्योंकि मल्लिका आर्थिक रूप से मजबूर होकर विलोम से विवाह करने के लिए विवश हो जाती है। नाटक के अन्त में कालिदास के वापस आने पर वह निर्भीक होकर कहती है कि मेरी बच्ची ही मेरा वर्तमान है। यह लेखक की कलात्मक शक्ति का सूक्ष्म विश्लेषण ही है, जो

मल्लिका के माध्यम से प्रकट हुआ है। मल्लिका एक ऐसी पात्र है, जो समाज के प्रत्येक वर्ग को प्रेरणा देती है और चुनौती भी खड़ी करती है। उसके गुण–दोष प्रमाण स्वरूप देखे जा सकतें हैं। जहाँ वह एक ओर भावना में जीती है तो वहीं दूसरी ओर यर्थाथ स्थिति को भी स्वीकार करती है और यर्थाथ में जीते हुए भी भावना से भागती नहीं है, बल्कि अद्म्य साहस के साथ प्रत्येक स्थिति को स्वीकार करती है। अम्बिका की अभिव्यक्ति लेखक ने यर्थाथ दृष्टिकोण के लिए किया है। उसको भावनात्मक रिश्तों और कार्यो से चिढ़ है, वह पूरी तरह से आक्रोशित हो जाती है, जब उसकी पुत्री मल्लिका भावना का नाम लेती है। पति की मृत्यु के बाद वह मल्लिका का भरण–पोषण स्वयं करती है, इस प्रकार वह आत्मनिर्भर आधुनिक स्त्री है, जो हमेशा वर्तमान में जीती है। इस बात से चिंतित रहती है कि उसके न रहने पर मल्लिका का भरण–पोषण कौन करेगा। इस पात्र का चरित्र इस बात की घोषणा करता है कि समाज में सिर्फ भावनात्मक ही नहीं जिया जा सकता है, बल्कि एक ना एक दिन यथार्थ का सहारा लेना ही पड़ता है। कालिदास नाटक का केन्द्रीय और एक संवेदनशील पात्र है, जो मल्लिका के प्रेम के साथ–साथ अपनी रचनाधर्मिता को भी प्रश्रय देता है। प्रारम्भ में वह बेरोजगार होता है, परन्तु अपनी लेखन प्रतिभा के कारण राज कवि तक का सफर तय करता है। इस पात्र के माध्यम से लेखक ने यह अभिव्यक्त किया है कि एक कलाकार या साहित्यकार किस तरह एक राज सत्ता के दबाव में आकर कुचल जाता है। जिससे स्पष्ट होता है कि अपनी जमीर से जुड़े रहने पर ही लेखन कार्य सम्भव है, निजता से अलग नहीं हुआ जा सकता है। विलोम एक व्यावहारिक गतिशील एवं नाटकीय पात्र है। यह उसी समय अपनी उपस्थिति दर्ज कराता है जब मल्लिका और अम्बिका द्वन्द्व में रहती

हैं। वह मल्लिका को अन्दर ही अन्दर चाहता है, परन्तु मल्लिका के विरोध के कारण कभी कह नहीं पाता। अम्बिका की मृत्यु के पश्चात् मल्लिका का सहारा वही बनता है और मल्लिका उसी से विवाह कर लेती है। अतन्तः विलोम ही सफल होता है। मातुल एक भौतिकवादी, आरामतलब, लालसायुक्त एवं सत्तालोभी पुरुष है। प्रियंगुमंजरी एक राजदुहिता और कालिदास की धर्मपत्नी है। इनके प्रत्येक संवाद से यह प्रकट होता है कि कालिदास को पति के रूप में बाँधकर रखना चाहती है। उस पर प्रभुत्व बनाए रखने के लिए कालिदास के परिवार पर उपकार भी करती है, पर बाँध नही पाती। मल्लिका के सामने अपने आप को असफल महसूस करती है। रंगिणी, संगिणी एक जिज्ञासु प्रवृत्ति के पात्र है, तो अनुस्वार और अनुनासिक हास्य व्यंग्यात्मक का पुट बिखेरनें वाले राज सैनिक है। नेमिचन्द्र का कथन है–

''मोहन राकेश की गहरी सूजबूझ और शिल्प कुशलता 'आषाढ़ का एक दिन' में सहायक और अपेक्षाकृत गौण पात्रों की परिकल्पना और रूपायन में दिखाई पड़ती है। कालिदास का प्रतिद्वन्द्वी विलोम वास्तव में उसका विलोम ही है, उससे अधिक जीवन्त और नाटकीय दृष्टि से अधिक विकसित पात्र भी है। नाटक के कार्य व्यापार में लगभग विस्फोटक तीव्रता और करुणा उसी की उपस्थिति से पैदा होती है। उसे तथाकथित खलनायक कहकर नहीं हटाया जा सकता। विलोम के बिना 'आषाढ़ का एक दिन' और भी भावुकता पूर्ण और बेहद शिथिल नाटक रह जाता। उसके तर्को में ही नहीं, उसकी पूरी जीवन दृष्टि में एक सी अकाट्यता और अनिवार्यता है कि उसकी गिनती हिन्दी नाटक के कुछ अविस्मरणीय पुरुष पात्रों में होगी।''[29]

मोहन राकेश की द्वितीय नाट्य कृति 'लहरों के राजहंस' है जिसमें प्रधान पात्रों की अपेक्षा गौण पात्रों की संख्या अधिक है, परन्तु शिथिल गतिविधि के साथ प्रकट होते हैं और कम से कम समय में अपनी उपस्थिति दर्ज कराते हैं। प्रमुख पात्र सुन्दरी अपने अह्म भाव में जीती है इनकी दृष्टि में स्त्री सौन्दर्य की कामुकता ऐसी होती है, जिससे पुरुष बंधा रहता है। इस पात्र का मानना है कि स्त्री की सफलता इसी में है, यही कारण है वह यशोधरा का वैवाहिक जीवन असफल मानती है। अन्य पात्रों की अपेक्षा श्यामांग एक कमजोर और मानसिक रूप से विक्षिप्त पात्र है, वह आन्तरिक रूप से उलझा हुआ स्वयं से ही प्रश्न किया करता है। एक प्रकार हम कह सकतें हैं कि नन्द में जो विचार चल रहे होते हैं, उसका विकसित रूप है श्यामांग। इस चरित्र के सम्बन्ध में डॉ0 आभा ठाकुर गुप्ता लिखती हैं–''नाट्य संरचना के आधार पर सृजित पात्रों में श्यामांग का चरित्र विशेष सम्भावनाओं को ध्यान में रखकर रचा गया है। घटनाओं के साथ चरित्र के निर्माण में द्वन्द्व का प्रयोग कर कथानक को गहरे और विरोधी रंगो में सम्पृक्त करना राकेश के चरित्र निर्माण की विशेषता है। प्रस्तुत नाटक में श्यामांग का चरित्र इस चेतना से सम्पन्न है।''[30] सुन्दरी और 'गौतम बुध्द' के मध्य नन्द का द्वन्द्व अभिव्यक्त होता है, वह पार्थिव से अपर्थिव की खोज करना चाहता है, परन्तु सुन्दरी का सौन्दर्य रूपी मोह आगे बढ़नें से रोकता है, इसलिए वह संशय में जीता है। अन्त में सुन्दरी का गर्व चूर–चूर हो जाता है, क्योंकि नन्द बौध्द धर्म में दीक्षित हो जाता है। नाटक में सबसे ज्यादा द्वन्द्व नन्द और श्यामांग के माध्यम से प्रकट होता है, इसीलिए इस नाटक की पात्र–योजना बिल्कुल अलग है, क्योंकि यह ऐतिहासिक होते हुए भी आधुनिक है। अलका सुन्दरी की सहचरणी है एवं अपने चरित्र से अप्रतिम है। अलका श्यामांग से प्रणय भावना रखती है

और सुन्दरी के पूछे जाने पर स्पष्ट रूप से स्वीकार करती है तथा सुन्दरी के प्रति निजता का भाव सर्वत्र रखती है। श्वेतांग एक सजीव और श्यामांग के विपरीत चलने वाला पात्र है।

आधे–अधूरे नाट्य कृति की पात्र–योजना अद्भुत है। एक ही पुरुष में चार पुरुषों की कल्पना की गई है और सभी अपनी खोखली जिन्दगी जीनें के लिए विवश होकर एक दूसरे पर निर्भर है। ये पात्र आधुनिक पात्रों की भाँति द्वन्द्व में जीते हैं। सावित्री यदि अपने परिवार की आर्थिक समस्याओं से ऊबकर नौकरी करती है, तो दूसरी ओर उसी परिवार से ऊबकर भाग भी जाना चाहती है। वह अपने अधूरेपन को सम्पूर्णता में पूरित करने के लिए अनेक पुरुषों के सम्पर्क में आती है। अन्ततः पुरुषों की सच्चाई, सामाजिक खोखलेपन एवं मुखौटे से तंग आकर कहती है 'सबके सब एक से' हैं। सावित्री चालीस के लगभग होने के बावजूद अपनी इच्छाओं का दमन नहीं करती है, बल्कि संघर्ष करते हुए उसे पूर्ण करना चाहती है। महेन्द्र परिवार का मुखिया है, फिर भी वह कायरों की भाँति सावित्री की आर्थिक सहायता पर निर्भर है। वह लिजलिजे एवं चिपचिपे स्वभाव के कारण पत्नी सावित्री को पसन्द नहीं है। वह अपने मित्रों (विशेष रूप से जुनेजा) के विचारों पर ही जीता है और प्रत्येक निर्णय लेता है। यह जीवन से हारा हुआ परजीवी पुरुष है, जो स्वयं को नियति के हवाले कर चुका है। सिंघानियाँ, जगमोहन, शिवजीत अपने स्वभाव से ही असन्तुष्ट रहते हैं, परन्तु अदम्य जिजीविषा उन्हें अपना जीवन जीने नहीं देती है। जुनेजा महेन्द्रनाथ का परोपकारी मित्र है। तीसरे अंक में इसकी उपस्थिति से मंच में गतिशीलता आ जाती है और सावित्री के अनैतिक सम्बन्धों का पर्दाफाश कर देता है। अशोक भी अन्य पात्रों की तरह आलसी, पिता के पद चिन्हों पर चलने वाला, जिम्मेदारियों से विमुख,

यथार्थ से दूर नकारा तो है ही, परन्तु पिता से सहानुभूति रखने वाला पात्र है। बड़ी लड़की बिन्नी माँ के ही प्रेमी मनोज के साथ भाग जाती है, लेकिन अपने वैवाहिक जीवन से असन्तुष्ट ऐसी चीजे ढूँढ रही है, जो इस घर से ले गई थी। इस नाटक के पात्रों की विशिष्टता तो अद्‌भुत है ही, परन्तु उससे भी विशिष्ट उनकी स्थिति और परिस्थितियाँ है। छोटी लड़की किन्नी उम्र से अभी तेरह वर्ष की है, परन्तु अश्लील कार्यो में रूचि लेनें लगती है, छोटे और बड़े का आदर, सम्मान नहीं करती है। इसको वक्त पर दूध और वस्तुओं से मतलब होता है। 'पैरों तले की जमीन' राकेश की अन्य नाट्य कृति है, जो अत्यधिक आधुनिक है। इस नाटक में राकेश ने समकालीन जिन्दगी को देखते हुए पात्रों का गठन किया है, जो द्वन्द्व, घुटन, संत्रास, अविश्वासी, भ्रष्टाचारी, अदम्य यौन इच्छाओं पर जी रहें हैं। इसमें भ्रष्टाचार से लेकर इन्सानियत तक का सफर देखने को मिलता है। भय के आवेश में किस तरह पात्र अपने स्वरूप बदलतें हैं, इसका वर्णन बखूबी किया गया है। मानव जाति के बीच आत्मिक लगाव न होकर लालसा का हो गया है और इस नाटक में पुरुष पात्र स्त्रियों की स्थिति को वासना की वस्तु छोड़कर कुछ नहीं समझता है आदि दृष्टिकोणों को लेखक ने पात्रों के माध्यम से लेखक ने व्यक्त किया है। अतः मोहन राकेश ने समकालीन परिस्थितियों को देखते हुए ही पात्रों की योजना बनाई है।

(3) नाट्य संवाद–

नाटक एक दृश्यात्मक विधा है जिसका अभिनय एंव मंचन किया जाता है, परन्तु अभिनय तभी प्रभावशाली हो सकता है जब संवाद या कथन प्रभावी हो। संवाद से तात्पर्य दो या दो से अधिक व्यक्तियों के बीच हुए वार्तालाप एवं बात–चीत से है। संवाद के कई अन्य नाम भी है जैसे–वार्तालाप,

सम्भाषण, आलाप, कथोपकथन, सवांद आदि। नाटक में पात्र अपने भावों एवं विचारों को अभिव्यक्त करने के लिए संवाद का ही सहारा लेता है और इन्हीं संवादों के माध्यम से पात्रों की मनोदशा एवं चरित्र चित्रण का पता चलता है। नाटक बिना कथानक या संवाद के पूर्ण नहीं हो सकता, इसीलिए संवादों की प्रक्रिया स्वाभाविक होनी चाहिए। बहुत लम्बें–लम्बें या कठिन संवाद नहीं होनें चाहिए। मोहन राकेश इस कुशलता में अग्रणी हैं। इन सभी विशेषताओं के माध्यम से लेखक ने नयी संवाद–योजना का भी गठन किया है। इनके नाटकों की एक अन्य विशेषता यह भी रही है कि उनके नाटक घटनाओं पर ज्यादा जोर न देकर चरित्र–चित्रण पर ध्यान देतें हैं। संवाद या कथावस्तु नाटक का केन्द्रीय तत्व होता है, जिसके माध्यम से नाटक की श्रीवृद्धि एवं सफलता, असफलता निर्भर करती है। संवाद के सन्दर्भ में आशीष त्रिपाठी लिखते हैं– "भिन्न स्तर पर नाटक की व्यापक संरचना में उन संवादों की बनावट महत्वपूर्ण होती है, जो नाटकीय विडम्बनाओं के तन्तु बुनतें हैं। नाटकीय विडम्बना से युक्त संवाद सारी कृति के सन्दर्भों, प्रसंगों और पात्रों की उक्तियों को परस्पर जोड़तें हैं और अतन्तः पात्र की नियति को व्यंजित करने में सहायक होते हैं।"[31] इस दृष्टि से 'आषाढ़ का एक दिन' नाटक सफल रहा है। संवाद प्रायः छोटे–छोटे और सुगठित है, परन्तु जहाँ पर पात्र आत्मकथन कहता है वहाँ अवश्य ही संवाद लम्बे हो गए हैं। उदाहरण के लिए–

"कालिदास : मैंने बहुत बार अपने सम्बन्ध में सोचा है मल्लिका और हर बार इस निष्कर्ष पर पहुँचा हूँ कि अम्बिका ठीक कहती थीं। मैं यहां से क्यों नहीं जाना चाहता था? एक कारण यह भी था कि मुझे अपने पर विश्वास नहीं था। मैं नहीं जानता था कि अभाव और भर्त्सना का जीवन व्यतीत करने के बाद प्रतिष्ठा और सम्मान के वातावरण में जाकर मैं कैसा

अनुभव करूँगा.....।"[32] लेखक ने परिस्थिति अनुसार इस संवाद का गठन किया है, परन्तु लम्बे स्वगत कथनों पर कई बार यह आरोप भी लगा कि ये उबाऊ और कमजोर संवाद हैं। नाटक के प्रारम्भ में संवाद काफी काव्यात्मक एवं साहित्यिक मिलतें हैं। तीसरे अंक में मल्लिका के स्वगत आत्म केन्द्रित संवाद वियोगावस्था की सारी आत्मप्रवंचना एक साथ कर लेना चाहती है। मल्लिका को जैसे ही कालिदास के सन्यास का समाचार मिलता है उसके सब्र का बाँध टूट जाता है और बाते एक ही बार में लम्बें–लम्बें संवादों में व्यक्त हो जाती है। मल्लिका की मनःस्थिति को देखते हुए यह उचित भी लगता है। नाटक में छोटे–छोटे संवाद भी है। अनुस्वार और अनुनासिक पात्रों के माध्यम से यह कार्य किया है रास्ते में पड़ी चौकी पर वे दोनों वार्तालाप करते हैं।

"अनुस्वार : मैं इससे सहमत हूँ।

अनुनासिक : तो?

अनुस्वार : तो?

अनुनासिक : तो इसे हटा देना चाहिए।

अनुस्वार : हाँ अवश्य हटा देना चाहिए।

अनुनासिक : तो?

अनुस्वार : तो?

अनुनासिक : हटा दो।

अनुस्वार : मैं?

अनुनासिक : हाँ।

अनुस्वार : तुम नहीं?

अनुनासिक : नहीं।

अनुस्वार : क्यों?

अनुनासिक : क्यों का कोई उत्तर नहीं।

अनुस्वार : फिर भी .....।"[33]

प्रस्तुत संवाद में छोटे होनें के साथ ही रोचकता भी है तथा व्यंग्यात्मकता सर्वत्र झलक रही है जो उनकी अज्ञानता को प्रकट करती है। रंगिणी, संगिणी के सवांद उत्सुकता एवं जिज्ञासा से परिपूर्ण है–

"संगिणी : हम बैठनें के लिए नहीं अध्ययन करने के लिए आयी है इस स्थान को आप लोग क्या कहते है?

मल्लिका : किस स्थान को?

रंगिणी : इसका अभिप्राय इस सारे स्थान से है जहाँ इस समय हम है उज्जयिनी में हम इसे प्रकोष्ठ कहते हैं यहाँ तुम लोग क्या कहते हो?"[34]

प्रस्तुत नाटक में मेघ के ईद–गिर्द गठित किए गए संवाद, व्यक्तिगत और बाह्य स्थितियों का द्वन्द्व और प्रतिद्वन्द्व चित्रित करते हैं, कई बार यह स्थिति, परिस्थितिवश दब सी गई है, परन्तु समयानुकूल उभर भी आती है। संवाद प्ररचनाओं के माध्यम से लेखक ने बड़ी ही तन्मयता के साथ व्यक्त किया है। राकेश जी रंगमंच को लेकर काफी जागरूक थे। वे रंगमंच के अनुकूल नाटकों के संवाद बनाएं हैं, जिसमें काव्यात्मकता के तत्व विद्यमान हैं। कहीं–कहीं मूक शब्दों के माध्यम से लेखक ने विलक्षणता प्रकट की है। मल्लिका पर्वत मालाओं से भीगकर जब घर आती

है, तो अम्बिका से अपने आनन्द का अनुभव कहती है, परन्तु अम्बिका कुछ न बोलकर अपने काम में ही लगी रहती है। यहाँ पर अम्बिका की शारीरिक क्रियाएँ संवाद का रूप धारण कर लेती हैं। मल्लिका कालिदास के राजकवि सम्मान पर बहुत खुश रहती है। वह कहती है "तुमने सुना नहीं माँ राज्य उन्हें राजकवि का आसन देना चाहता है।"[35] अम्बिका इस बात को अनसुना कर देती है। अम्बिका के संवादों से हमेशा व्यंग्य एवं यर्थाथ ही प्रकट होता है। विलोम के संवादों से भी एक मीठा व्यंग्य झलकता है, यद्यपि वह व्यावहारिक है फिर भी उसके संवाद यर्थाथपूर्ण जीवन की वास्तविकता को प्रकट करते हैं। पात्रों के प्रति सारी वितृष्णा और विक्षोभ परस्पर संवादों के माध्यम से प्रकट होता चलता है यह राकेश जी की नाट्यकला की ही विशेषता है। गिरीश रस्तोगी जी कहती हैं–"संवादों की यह स्वाभाविकता और वैशिष्ट्य न अनायास आया है न सायास, यह पात्रों के अन्तर्मन तक उनके सम्पूर्ण व्यक्तित्व की आन्तरिकता तक राकेश की पहुँच का स्वाभाविक परिणाम है।"[36]

'लहरों के राजहंस' में जिस तरह पात्रों के भावों, स्थितियों, परिस्तिथियों एंव क्रियाओं मे अत्यधिक विविधता नहीं है, वैसे ही इस नाटक के संवादों में भी। कहीं–कहीं तो बिम्ब ही संवाद का स्वरूप धारण कर लेतें हैं। राकेश जी इस नाटक की भाषा एवं संवाद को लेकर काफी चिन्तित रहे हैं, क्योंकि नाटक में संवाद गठन की सरसता एवं बनावट की गहनता नहीं है, बल्कि अधूरे से लगतें हैं। नाटक के तीसरे अंक में प्रस्तुत संवाद कहीं–कहीं बहुत लम्बे हो गए हैं। यही धारणा हम श्यामांग के संवादों में भी पातें हैं। कुछ संवाद सुन्दरी के भी लम्बें हो गये हैं, जो संवाद का एक दोष होता है। संवाद छोटे न होने चाहिए न ही बड़े, बल्कि

मध्यम स्तर और पात्रानुकूल होने चाहिए। उदाहरण स्वरूप नन्द का संवाद–

"नन्दः बातों को उलझातें क्यों हो भिक्षु?.... कौंन है वह व्यक्ति? जिसे मैंने रोक रखा हैं? (फिर भी कोई अन्तर नहीं मिलता, तो हताश सा कक्ष में लौट आता है)''[37]

सुन्दरी का भी एक उदाहरण प्रस्तुत है–

सुन्दरीः– जान अब नहीं गई हूँ, सदा से जानती रही हूँ कि जितनें साधारण और लोग हैं उतनें साधारण आप भी कि जितनी आसानी से ये सब प्रभावित हो सकतें हैं उतना ही असानी से आप भी।"[38]

श्यामांग के संवाद सिर्फ लम्बे ही नहीं, बल्कि अपने–आप में ही उलझें हैं। यह दूसरी बात है कि स्वयं श्यामांग का चरित्र विवादास्पद रहा है, क्योंकि उसका चरित्र और संवाद अन्तर्मुखी है, बहिमुर्ख नहीं। ऐसे संवाद आन्तरिक द्वन्द्व एवं मनोदशा को ही उजागर कर सकतें हैं। बिल्कुल सरल एवं स्पष्ट नहीं हो सकतें। यही कारण है कि श्यामांग के संवादों से अपार्थिव एवं रहस्यात्मक उक्ति ही प्रकट होती है। प्रस्तुत नाटक में श्यामांग के बहुत ही कम संवाद प्रस्तुत है, पर जो भी है उसमें वह प्रश्न ही करता है। इस सन्दर्भ में डॉ0 शोभा चतुर्वेदी जी लिखती हैं–"श्यामांग प्रसंग के संवादों में विषयान्तर तत्व की स्थितियाँ भी अनचाही नहीं है, विषय की तारतम्यता को लगातार खण्डित कर लेखक आवेश पूर्ण क्षण निर्माण का प्रयास करता है।"[39] ठीक इसके विपरीत श्वेतांग है जिसके संवादों में कोई प्रश्नात्मक चिन्ह नहीं है। कभी–कभी तो वह श्यामांग के ही संवादों का दोहराता चलता है। अतः पहली बार 'लहरों के राजहंस' में सार्थक रोमांटिक वातावरण की सृष्टि हुई है। दूसरी ओर नन्द के कथनों

में आपसी सम्बन्धों की मधुरता, आत्मीयता, निजीपन, भावनाओं का मेल, द्वन्द्व, श्रृंगारिकता आदि गुण संवादों में विद्यमान है, जो नाटक को क्रियाशीलता की ओर अग्रसर करता है। नन्द और सुन्दरी के माध्यम से जो श्रृंगारिक छटा बिखेरी गई थी, वह हिन्दी नाट्य साहित्य के लिए नितान्त नवीन था। सुन्दरी की वाक्चार्तुर्यता, सामजंस्य, नन्द को उसकी ओर आकर्षित होनें के लिए मजबूर करता है। यहाँ पर सुन्दरी के लिए नन्द के संवाद काफी काव्यात्मक ढंग से व्यक्त हुए हैं सुन्दरी का एक संवाद श्रृंगारिक दृष्टि से देखा जा सकता है–

"सुन्दरी : (कटोरी लेकर रखती हुई) पता है लोग क्या कहते हैं?

नन्द : क्या कहते हैं?

सुन्दरी : कहते हैं, आप का ब्याह यक्षिणी से हुआ है, जो हर समय आपको अपने जादू से चलाती है।

नन्द : इसमें झूठ क्या है?

सुन्दरी : झूठ नहीं है।

नन्द : यक्षिणी हो या नहीं, यह तो मैं नहीं कह सकता, पर मानवी तुम नहीं हो। (स्थिर दृष्टि से उसकी ओर देखते हुए) ऐसा रूप मानवी का नहीं होता।

सुन्दरी : मानवी का रूप बहुत देखा.....।[40]

राकेश जी को पात्र और चरित्र संवादों की पकड़ बहुत थी। सुन्दरी उच्च राजवंश की कुलवधू है, उसको अपने रूप सौन्दर्य पर बहुत गर्व होता है। उसके प्रत्येक संवाद से एक अलग प्रकार की कला, खास लय एवं उतार–चढ़ाव के रूप देखे जा सकते हैं। सुन्दरी नाटक की प्रमुख पात्र

है, तो यह स्वभाविक है कि राकेश का संवाद गठन सुन्दरी के प्रति ज्यादा सशक्त होगा। सुन्दरी एक ओर यशोधरा की असफलता पर व्यंग्य करती है, तो वहीं दूसरी ओर स्वयं (नन्द द्वारा बौद्ध भिक्षु में दीक्षित होने) का भी अह्म चूर–चूर हो जाता है। यहां पर राकेश की संश्लेषण क्षमता को देखा जा सकता है। जयदेव तनेजा कहते हैं–"लहरों के राजहंस' में सुन्दरी के हाथों उसके अन्त को लेकर राकेश जिस तरह बेबस और पराजित से हो गए थे, उससे ऐसा लगता है कि रचनाकार ने पहले चाहे जो भी सोचा था, या किया हो, चरित्र अपना व्यक्तित्व पा चुकने के बाद अपनी नियति शायद स्वयं ही निर्धारित करता है।''[41]

लेखक अपने कई लेखों एवं साक्षात्कारों में यह बात स्वीकार करते हैं कि 'लहरों के राजहंस' की भाषा, काव्य एवं संवाद को लेकर काफी मतभेद था। इस कृति को 1968 में फिर से संशोधित कराकर पुस्तकाकार प्रकाशित कराया। इस सन्दर्भ में जयदेव तनेजा लिखते हैं–"चरित्र सम्बन्धों, संवादों, अभिप्रायों और संरचनात्मक दृष्टि से किए परिवर्तनों एवं संशोधनों की संख्या कम नहीं थी।"[42]

संवाद की दृष्टि से नन्द के व्यक्तित्व का अन्तर्मुखी विकास श्यामांग के चरित्र का ही निरूपण है। यह एक ऐसा पात्र है, जो प्रत्येक क्षण द्वन्द्व में उलझा रहता है, क्योंकि वह नहीं चाहता कि उसकी पत्नी को किसी भी प्रकार का दुःख हो। वह सुन्दरी के श्रृंगार प्रसाधन एवं वाक्चातुर्य में फंसा रहता है तभी उसके भ्राता 'बुद्ध' दरवाजे पर कब आकर चले जाते हैं उसे पता ही नहीं चलता। यह स्थिति उसे दुविधा में डाल देती है कि वह सुन्दरी की इच्छाओं की पूर्ति करे या तत्क्षण भ्राता से क्षमायाचना। उसकी यह द्वन्द्वात्मक स्थिति प्रस्तुत संवाद के माध्यम से प्रकट होता है–

"सुन्दरी : नहीं इस मन से नहीं। पहले बताएँ क्या सोच रहे हैं?

नन्द : (अव्यवस्थित होकर)..... नहीं, सोच कुछ नहीं रहा.....सोच रहा था कि..... ।"[43]

अलका और सुन्दरी के संवाद प्रायः छोटे–छोटे हैं। संवादों के बीच में मौन की भी अभिव्यंजना की गई है। मूक ध्वन्यात्मक शब्दों से तत्कालीन वातावरण जीवंत हो उठता है। ऐसा करने में मोहन राकेश की अद्‌भुत क्षमता का प्रदर्शन देखा जा सकता है। अलका के संवादों में सेवाभाव, शालीनता एवं एकलय प्रणय भावना आदि गुण विद्यमान हैं।

'आधे अधूरे' नाटक के चरित्र स्वयं एक विश्लेषण पद्धति को अपनाते हुए खुद ही आन्तरिक अर्थ प्रकट करते जाते हैं। संवादों की स्पष्टता बिल्कुल अलग है यही कारण है कि पात्रों के चरित्र स्वयं अपना स्वरूप प्रकट कर देते हैं। समकालीन जिन्दगी के तनाव, घुटन आदि को समझनें की शक्ति पहली बार मोहन राकेश ने भाषा, संवाद के माध्यम से प्रकट किया। प्रस्तुत नाटक में प्रत्येक पात्र से एक बेचैनी, अजनबीयत, अकेलापन, खोखलापन एवं संत्रास आदि को संवादों के माध्यम से अभिव्यक्त करता है, तो वहीं आधुनिक मध्यवर्गीय परिवार की विशेषताओं को भी। गिरीश रस्तोगी जी लिखती हैं "यह बात ध्यान देने की है कि जहाँ पहले दोनों नाटकों में संवादों के अतिरिक्त या साथ–साथ पात्रों की गतियों को बहुत स्थान दिया गया था। वहीं इस नाटक में संवादों की गति को ही ज्यादा महत्व दिया गया है।"[44] इस नाटक के पात्र चाहे जैसी मनोदशा में रहें हो लेकिन संवादों में शिथिलता कहीं आनें नहीं पाई है। कहीं–कहीं संवाद बहुत लम्बें हो गयें हैं तो वहीं कहीं–कहीं अत्यंत छोटे।

कभी–कभी तो दो पात्रों के मध्य विरोधाभास ही उत्पन्न हो जाता है, परन्तु रहता है परिस्थिति अनुकूल ही। उदाहरणस्वरूप–

"बड़ी लड़की : तो तू सोचता है कि ममा जो कुछ भी करती हैं यहाँ.....

लड़का : मैं पूछता हूँ क्यों करती हैं? किसके लिए करती हैं?.....

बड़ी लड़की : मेरे लिए करती हैं.....।

लड़का : तू घर छोड़कर चली गई.....।

बड़ी लड़की : किन्नी के लिए करती हैं.....।

लड़का : वह दिन–ब–दिन पहले से भी बत्तमीज होती जा रही है।

बड़ी लड़की : डैडी के लिए करती हैं.....।

लड़का : उनकी हालत देखकर रहम नहीं आता.....।

बड़ी लड़की : और सबसे ज्यादा तेरे लिए करती हैं.....।

लड़का : और मैं शायद इस घर में सबसे ज्यादा नकारा हूँ, पर क्यों.....?"[45]

नाटक के संवाद विशिष्ट है, परन्तु अपनी अक्रामता को नहीं छोडते यह सर्वत्र विद्यमान रहता है। छोटे संवाद इतने प्रभावपूर्ण है कि पूरे परिवेश को समेटनें में सक्षम हैं। इसकी भाषा तो सशक्त है ही, साथ ही संवादों में काव्यात्मकता एवं लयता का भी प्रयोग मिलता है। रमेश गौतम लिखतें हैं–"नाटकीय संवादों में लय का होना अपरिहार्य है, बिना किसी शब्द योजना के लय सम्भव नहीं, शब्दों की आपस में आन्तरिकता ही इस लय का निर्माण करती है।"[46] इस नाटक की अन्य विशेषता यह भी है कि लेखक पात्रों के माध्यम से सूक्ष्म मनोभावों एवं क्रियाओं को भी संवादों में

भर देना चाहा है। इनके पात्र इतना शब्दों के माध्यम से नहीं कह पाते जितना संकेत के माध्यम से कह देना चाहते हैं। बड़ी लड़की का संवाद–

"बड़ी लड़की : क्योंकि मुझे लगता है कि ..... कैसे बताऊँ क्या लगता है?

वह जितने विश्वास के साथ यह बात करता है, उसमें..... उसमें मुझे अपने से एक अजब सी चिढ़ होने लगती है। मन करता है..... आस–पास की हर चीज को तोड़–फोड़ डालूँ। कुछ ऐसा कर डालूँ जिससे.....।"[47]

बिन्नी के संवाद भी कभी–कभी असन्तुलित हो जातें हैं, उसके बड़प्पन और आयु की गतिशीलता में समांजस्य नहीं आ पाता है। यह सत्य है कि नाटक के पात्रों की ही भाँति इसके संवाद भी आधे–अधूरे हैं। प्रायः यह आरोप लगता रहा है कि इस नाटक के संवाद आधे–अधूरे हैं, परन्तु महेन्द्र और सावित्री के संवाद इसका खण्डन करते हैं जहाँ पर यह दुर्बोधता है, वहाँ बिम्बों के माध्यम से सम्पूर्ण वातावरण साकार हो उठता है।

"पुरुष एक : पर बात तो मेरे घर की ही हो रही है।

स्त्री : तुम्हारा घर! 'हँ'

पुरुष एक : तो मेरा घर नहीं है यह? कह दो नहीं हैं।

स्त्री : सचमुच तुम अपना घर समझते इसे तो.....।

पुरुष एक : कह दो जो कहना चाहती हो?

स्त्री : दस साल पहले कहना चाहिए था मुझे..... जो कहना चाहती हूँ।''[48]

पूर्व के दोनों नाटकों से इसकी संवाद योजना बिल्कुल अलग है, पात्र उतना ही बोलते है जितना उन्हें बोलना चाहिए। किन्नी छोटी है, परन्तु उसके संवाद अतिवाद अवश्य करते हैं कभी–कभी ऐसा वातावरण उत्पन्न करती है जो पूरे नाटक में कोई नहीं कर पाता है। अशोक का चरित्र वैसे भी बदनाम था, परन्तु उसके छुपे एक चरित्र का उद्‌घाटन किन्नी के संवादों से ही होता है। वह कहती है–

छोटी लड़की : झूठ–मूठ? मेरा फाउंटेन पेन तेरी वर्णा के पास नहीं है? वही उद्योग–सेंटर वाली, जिसके पीछे जूतियाँ चटखाता फिरता है।''[48]

इस प्रकार राकेश के पात्रों में संवाद की स्वाभाविक अभिव्यक्ति हुई है, जिसे पाठक सहज ही ग्रहण कर लेते हैं। गिरीश रस्तोगी का एक कथन हैं–"राकेश के संवादों में निरर्थक प्रसंग, अर्थ है न शब्द वाक्य गठन की शिथिलता, लड़खड़ाहट, अस्पष्टता कभी नहीं मिलेगी क्योंकि वे कथा–विकास से अधिक चरित्र जुड़े से हुए है या समूचे रंगमंच से ।"[49]

'पैरों तले की जमीन' नाटक सम्पूर्ण रूप से आधुनिक है। यह पात्र के टूटे हुए सम्बन्धहीनता एवं कामकुण्ठा से पीड़ित व्यक्तियों का नाटक है। प्रस्तुत नाटक में भी संवाद छोटे और बड़े मिलते हैं, जो आत्मकथन के समय काफी लम्बें हो जाते हैं। प्रमुख पात्रों के संवाद अत्यन्त सशक्त, प्रभावशाली एवं सुगठित हैं। उनमें सरलता, सहजता के साथ व्यंग्यात्मकता की झलक भी मिलती है। ज्यादातर संवाद पात्रानुकूल एवं प्रसंग के अनुरूप ही है एक तरफ संवाद बहुत तीखें है, तो दूसरी तरफ मृदुल भी। पात्रों के कटाक्ष के समय उनकी भाषा से नया दृश्य भी देखनें को मिलता है। अयूब, रीता, अब्दुल्ला और कुछ पण्डित के भी संवाद बड़े हैं, तो दूसरी तरफ छोटे संवादों से भी नाटक भरा पड़ा है। उदाहरण स्वरूप प्रस्तुत है

"अयूब : (सलमा से) तुम चलोगी नहीं?

सलमा : नहीं।

अयूब : तुम जानती हो मैं तुम्हारा हठ छुड़ा भी सकता हूँ।

सलमा : छुड़ा सकते हो।

अयूब : हाँ।

सलमाः अपने हठ से।

अयूब : नहीं।

सलमा : तो।

अयूब : चलो मैं कह रहा हूँ।

सलमा : नहीं..... ।"[50]

अतः मोहन राकेश के सभी नाटकों की संवाद योजना अत्यन्त सरस, स्वाभाविक एवं परिस्थितियों के अनुकूल है।

(4) भाषा शैली–

मोहन राकेश के नाटकों की भाषा सर्वथा व्यावहारिक, सरस, सरल एवं प्रभावशाली रही है। भाषा एक ऐसा सशक्त माध्यम है, जिसमें हम अपने विचारों को शब्दों के माध्यम से व्यक्त करते हैं, इसलिए भाषा का सम्प्रेषणीय होना अनिवार्य है। 'आषाढ़ का एक दिन' की भाषा–शैली बहुत ही सशक्त एवं प्रभावशाली है। इसकी प्रसिद्धि का एक कारण भाषा–शैली भी है। नाटक में सभी वर्ग के पात्र परिस्थिति के अनुसार अपनी भाषा को बदलतें जातें हैं। इस नाटक की भाषा पूर्व युग के नाटकों की भाषा से

बिल्कुल भिन्न है। इस सन्दर्भ में डा. आभा गुप्ता लिखती हैं– "नाटक में राकेश ने फिर से उस काव्यत्व को प्रतिष्ठित किया, जिसे यर्थाथवादी नाट्य परम्परा ने नाटक से निर्वासित कर दिया था। मल्लिका के लम्बे स्वगत कथन हिन्दी साहित्य में सर्वाधिक काव्यात्मक पंक्तियों में से है। जयशंकर प्रसाद ने तीसरे दशक के प्रारम्भ में 'चन्द्रगुप्त' तथा 'स्कन्दगुप्त' जैसे ऐतिहासिक नाटक लिखे थे, जिनमें काव्यतत्व की जबरदस्त क्षमता है। कोई तीन दशकों बाद राकेश के नाटक में काव्यतत्व की फिर से प्रतिष्ठा की..... इस नाटक के शब्दों की अपूर्व क्षमता, श्रेष्ठ काव्यात्मकता एवं भाषा की लय को आसानी से महसूस किया जा सकता है।"[51] काव्यात्मक नाट्य भाषा की देन मोहन राकेश की बहुत बड़ी उपलब्धि थी। दूसरी ओर नाट्य भाषा की पूर्व परम्परा को तोड़ने का भी प्रयास था अतः यह स्पष्ट हो जाता है कि जिस लेखक में जितनी मौलिकता होगी वही अभिव्यक्ति के अन्य पक्षों की तरह उसकी भाषा भी अपने व्यक्तित्व से प्रभावित अवश्य होगी। इसका आधार कोई एक वस्तु जिम्मेदार नहीं होती है, बल्कि उसकी चिन्तन प्रक्रिया, उसका अध्ययन जगत, प्रादेशिक एवं आंचलिक प्रभाव और उसके पारिवारिक संस्कार सम्मिलित होते हैं। इस विषय में मोहन राकेश का आत्मकथन है "लेखक की अनुभूति उसकी संवेदनशीलता, जो भाषा को उसके निजी या 'अपने रूप में' ढ़ालनें का मुख्य कारण है। हर अनुभूति का अपना एक आन्तरिक शिल्प होता है, जिसकी खोज कलाकर को करनी होती है। उसी तरह यह भी कहा जा सकता है कि हर अनुभूति और संवेदना की अपनी अलग भाषा है, जिसका कलाकार या साहित्यकार खोज करता है।"[52] इस कथन से यह प्रतीत होता है कि राकेश जी का भाषा से घनिष्ठ एवं गहरा सम्बन्ध था। यह दूसरी बात है कि राकेश जी की भाषा और शैली की तलाश विशेष रूप से

हिन्दी विषय (नाट्यक्षेत्र में) एक बहुत बड़ी चुनौती थी। इसका प्रमुख कारण यही मान सकतें हैं कि राकेश जी पूर्वनाट्य भाषा से पूरी तरह असन्तुष्ट थे। 'आषाढ़ का एक दिन' की भाषा बहु आयामी है और शैली ज्यादातर संवादात्मक ही है। प्रस्तुत नाटक में तत्सम शब्दों की बहुलता है। ग्रामीण पात्र भी तत्सम प्रधान भाषा का प्रयोग करते हैं 'शक्कर, सामनें, घाटी, शैय्या, साधन, घोषणा, हाथ छोड़कर, बिका हुआ, अतिथि, प्रदेश उपजाऊ, निर्माता, चिकनी, अस्थिर जैसे शब्दों के स्थान पर तल्प, उत्पत्यका, शर्करा, आस्तरण, उपादान, उद्घोष, अभिस्तुति, कृति, अभ्यागत, प्रान्तर, उर्वर, स्यपति, श्लक्ष्ण, विछुब्ध आदि क्लिष्ट और तत्सम युक्त शब्दों का ही प्रयोग करते हैं। मल्लिका के कथनों में रोमानियत की प्रधानता है, इसलिए उसकी भाषा काव्यात्मक हो गयी है। उदाहरण के लिए–

''मल्लिका : मैंने भावना में एक भावना का वरण किया है। मेरे लिए वह सम्बन्ध और सब सम्बन्धों में बड़ा है। मैं वास्वत में अपनी भावना से प्रेम करती हूँ जो पवित्र है, कोमल है, अनश्वर है।"[53]

इस कथन में भाषा व्यावहारिक होने के साथ–साथ काव्यात्मक है, इसके विपरीत अम्बिका की भाषा से एक सामाजिक एवं व्यक्तिगत यथार्थ प्रकट होता है उसका जीवन ही उसी पड़ाव पर आ गया है कि वह अपनानें में विवश है। अम्बिका चूँकि एक ग्रामीण महिला है, इसीलिए उसके संवादों में साधारण आम बोल–चाल की व्यवहारिक भाषा का भी प्रयोग मिलता है। जैसे–

''अम्बिका : तुम जिसे भावना कहती हो, वह केवल छलना और आत्मप्रवंचना है.....। भावना में भावना का वरण किया है। ..... मैं पूछती हूँ भावना में भावना का वरण क्या होता है? उससे जीवन की आवश्यकताएँ किस तरह पूरी होती है?..... भावना में भावना का वरण!

हूँः।''[54] प्रस्तुत कथन अम्बिका की यर्थाथवादी दृष्टि को तो प्रकट करता है, परन्तु अन्त में 'हूँ' शब्द मानसिक उथल–पुथल और भाषा की व्यंजनात्मक शक्ति को प्रकट कर देता है।

यह विलक्षण बात ही है कि 'आषाढ़ का एक दिन' नाटक की भाषा प्रशंसित रही है तो दूसरी ओर उस पर उँगली भी उठायी गई, उसकी संस्कृतनिष्ठ तत्सम प्रधान भाषा को लेकर। इसका कारण कुछ ऐतिहासिक भी हो सकता है। सवाल उसकी साहित्यिकता को लेकर उतना महत्वपूर्ण नहीं है, जितना उसकी रंगमंचीयता को लेकर। हम यह मान सकतें हैं कि नाटक में कुछ क्लिष्ट शब्द अवश्य है, परन्तु यह भाषा समयानुकूल, भावानुकूलपरिस्थिति के संयोजन पर ही ज्यादा ध्यान दिया गया है। नाटक में भाषा को लेकर उतार–चढ़ाव स्वाभाविक है, क्योंकि भाषा की काव्यात्मक लय साहित्यिक भाषा से मिलकर ही बनी होती है। इस नाटक की सशक्त विशेषता यह भी है कि भाषा पात्रों के अनुकूल बदलती जाती है। अम्बिका की सारी आत्मप्रवंचना, कालिदास के प्रति उसका विक्षोभ स्वयं की गहरी वेदना उसके संवादों से प्रकट हो जाता है। यह भाषा से चाहे न प्रकट हो, परन्तु उसकी लयात्मकता से पूरी तरह से स्पष्ट हो जाता है और उसका अर्थलय इतना तर्क संगत होता है कि अन्य नाटकों की भाषा शैली में कम ही दिखाई पड़ता है। प्रस्तुत नाटक में भाषा पात्रों की स्थिति और परिवेश को लेकर पूरा ख्याल रखा गया है। कहीं–कहीं तो राकेश जी ने भाषा का ऐसा सौन्दर्य उकेरा है कि एक ही शब्द को लेकर चलने से भी भाषा की गतिशीलता शिथिल नहीं होती है, बल्कि उसके शब्द संगठन से भाषा की अद्‌भुत अर्थवत्ता प्रकट होती है। एक उदाहरण प्रस्तुत है–

''अम्बिका : कैसी विचक्षणता है!

निक्षेप : विचक्षणता ?

अम्बिका : विचक्षणता ही तो है।

निक्षेप : इसमें विचक्षणता क्या है? अम्बिका!

अम्बिका : राज्य कवि का सम्मान करना चाहता है। कवि सम्मान के प्रति उदासीन जगदम्बा के मन्दिर में साधनानिरत है। राज्य के प्रतिनिधि मन्दिर में जाकर कवि की प्रार्थना करते हैं। कवि धीरे–धीरे आँखे खोलता है।.....इतना बड़ा नाटक करना विचक्षणता नहीं है?''[55]

यहाँ पर विचक्षणता शब्द को लेकर पाठक भ्रमित अवश्य हो सकता है, परन्तु 'विचक्षणता' शब्द स्थिति अनुसार प्रयुक्त किया गया है, यह देखने में अनुप्रयुक्त लगता है, लेकिन पूरा परिवेश और उस समय का दृश्य इस संवाद में समा जाता है। अम्बिका कालिदास को पसन्द नहीं करती है, यह मनोदशा मूर्तिवान हो उठती है और अम्बिका का आक्रोश प्रकट हो जाता है। वहीं निक्षेप जब इस 'विचक्षणता' शब्द का प्रयोग करता है, तो आश्चर्य ही प्रकट होता है। इसलिए हम कह सकतें हैं कि यह विचक्षणता शब्द ध्वन्यात्मक अर्थ प्रकट कर रहा है। मोहन राकेश ने न सिर्फ भाषा के एक–एक शब्द को गढ़ा है, बल्कि रंगमंचीयता की दृष्टि से उचित ख्याल भी रखा है। इनकी भाषा पात्रों के द्वन्द्व, घुटन और उनकी मनःस्थिति को प्रकट करने की पूरी शक्ति रखती है। व्यंजनात्मक शक्ति के माध्यम से पात्रों की भाषा– शैली को देखा जा सकता है। जैसे–

''कालिदास : कहो, आजकल किसी नये छन्द का अभ्यास कर रहे हो?

विलोम : छन्दों का अभ्यास मेरी वृत्ति नहीं है।

कालिदास : मैं जानता हूँ तुम्हारी वृत्ति दूसरी है.....। उस वृत्ति में सम्भवतः छन्दों का अभ्यास सर्वथा छुड़ा दिया है।

मल्लिका : आर्य विलोम, मैं इस प्रकार की अनर्गलता क्षम्य नहीं समझती ।

विलोम : अनर्गलता ?.....

इसमें अनर्गलता क्या है मैं बहुत सार्थक प्रश्न पूछ रहा हूँ। क्यों कालिदास ? मेरा प्रश्न सार्थक नहीं है .....क्यों ? अम्बिका ?''[56]

प्रस्तुत नाटक की भावानुकूलता से पाठक प्रभावित तो है ही साथ ही उज्जयिनी से आए अनुस्वार, अनुनासिक, रंगिणी, संगिणी, मल्लिका और ग्राम प्रान्त की भाषा– शैली से प्रभावित होती है। प्रस्तुत नाटक की भाषा ध्वन्यात्मक, व्यंजनात्मक, सांकेतिक एवं विविध आयामी है। विभिन्न प्रकार के पात्र होने के कारण उनकी भाषा एक होते हुए भी उसकी अर्थसत्ता में वैविध्य है। भाषा की तलाश हर जागरूक लेखक के लिए आवश्यक हो जाता है। पूर्व की भाषा के सन्दर्भ में राकेश जी का कथन है–"यह एक ऐसी ऐन्द्रजालिक भाषा थी, जिसमें जीवन की जटिल और साहसिक अभिव्यक्ति सम्भव न थी। उसकी उपलब्धि किशोरमय की भावुकता में तत्सम शब्दों के माध्यम से प्रौढ़ता का आभास कराने अथवा किसी मनःस्थिति के इर्द–गिर्द है। यह हेत्वाभासी दार्शनिकता का जाल बुनकर चमत्कार पैदा कराने तक ही सीमित थी।"[57]

भाषा ही एक ऐसी शक्ति होती है, जिसके माध्यम से हम लेखक के विचार और पात्रों की मनोदशा से रूबरू हो पातें हैं। भाषा की व्यंजनात्मक शक्ति जितना सफल होगी नाटक की भाषा–शैली उतनी ही अर्थवान और प्रासंगिक होगी। राकेश जी ने भाषा की तीनों शक्तियों में व्यंजना को ही

चुना है। 'लहरों के राजहंस' के प्रमुख पात्र नन्द और सुन्दरी है और भाषा की सशक्त अभिव्यक्ति उन्हीं के माध्यम से हुई है। सहायक पात्र श्यामांग, अलका की भाषा भी किसी से कम नहीं है, उनकी भाषा और शैली भिन्न–भिन्न स्थितियों को प्रकट करने की क्षमता रखती है जिससे भाषा का सशक्त स्वरूप उद्‌घाटित होता है। श्यामांग की भाषा स्थिति अनुसार विलक्षण स्वरूप ग्रहण करती है, जिसे हम उदाहरण स्वरूप देख सकतें हैं–

''श्यामांग : कहाँ हूँ मैं? क्यों हूँ मैं यहाँ?.....मेरा स्वर।''[59]

''श्यामांग : यह चील मुझे लिए जा रहा है.....जाने कहाँ ?''[59]

''मैं तुमसे सच कहता हूँ श्वेतांग ! मैं सोच नहीं रहा था .....।''[60]

''छाया वहाँ है देवि–कमल–ताल पर।''[61]

''काम?.....आपने कहा था न, काम न करने के लिए।''[62]

प्रस्तुत नाटक में श्यामांग के जितने भी संवाद मिलतें हैं, उन सब में भाषायी विविधता देखने को मिलती है। प्रत्येक कथन की अर्थसत्ता भी अलग–अलग है। शायद यही कारण है कि श्यामांग की भाषा के साथ ही कथन भी उलझें हुए हैं। यह दूसरी बात है कि भाषा के माध्यम से तत्कालीन वातावरण एवं बिम्ब भी प्रकट होते जाते हैं। राकेश की यह विशेषता रही है कि पात्रों की भाषा को तनाव और द्वन्द्व–घुटन, संत्रास के चरम उत्कर्ष पर ले जाकर उन्हीं से ही प्रश्न पर प्रश्न करवाते जाना।

''सुन्दरी : तुम.....। कितने–कितने बिन्दु खोजें हैं आज तक तुमने ?.....
जाओ एक और बिन्दु खोजो! कितने–कितने शब्दों में ढ़ाँपा है
उन बिन्दुओं को? .....जाओ, कुछ और शब्दों में ढूढों.....।''[63]

इस कथन से एक विशेषता यह भी प्रकट होती है कि पात्र अपनी भाषा के माध्यम से पाठक से अपनत्व ग्रहण करना चाह रहा है। यह राकेश की विलक्षण प्रतिभा ही है, जिसके माध्यम से इतनी सशक्त भाषा पात्रों को प्रदान कर पाएँ। कुछ ही शब्दों से पूरे वातावरण का परिवेश सिमट जाता है। राकेश जी का यह मानना भी था कि उनकी भाषा अपने परिवेश से जुड़ी हुई हो–''नाटककार के शब्द कुछ इस तरह काम करें जिससे दर्शक की अनुभूति पर उनका ऐसा प्रभाव पड़े कि वह अचानक अपने आपको आस–पास के परिवेश से जुड़ जाए।''[64] प्रस्तुत नाटक में शब्दों (भाषा) की प्रभावशीलता के साथ ही ध्वनि की विखण्डता को भी ध्यान में रखा गया है, क्योंकि ध्वनि में सम्प्रेषणशीलता की अपार सम्भावनाएं होती हैं। नाटक की कथावस्तु का इतिहास से सम्बन्ध है, इसलिए यहाँ भाषा की दोहरी भूमि और उसकी ऐतिहासिक गम्भीरता को लेकर समस्या हो सकती है। कई बार पात्रों की भाषा से ऐसा प्रतीत होता है कि विपरीत भावस्थितियाँ प्रकट हो रही है, परन्तु यहाँ इसका तात्पर्य आधुनिक मानव की आन्तरिक अभिव्यक्ति से है। पात्रों की भाषा की यह विलक्षणता बहुत आसानी से महसूस की जा सकती है। कहीं–कहीं राकेश जी मौन अभिव्यंजना के माध्यम से पात्रों की भाषा की सांकेतिक अर्थसत्ता प्रकट की है, मौन और अधूरे वाक्यों के सन्तुलन का सामंजस्य भी अभूतपूर्व है। उदाहरण के लिए– ''अलका : (असमंजस में नन्द की ओर देखकर) तो क्या?

सुन्दरी : (आवेश में उसकी ओर मुड़कर) इसके बाद और भी कुछ पूछना शेष है क्या? (अलका आहत भाव से दोनों की ओर देखकर सिर झुका लेती है और चुपचाप दाईं ओर से चली जाती है। सुन्दरी

पलभर अपने स्थान पर खड़ी रहती है। फिर गहरी दृष्टि से एक बार नन्द की ओर देख लेती है)।''[65]

इस कथन से यह स्पष्ट है कि भाषा द्वन्द्व की परिचायक बन गई है और इसमें प्रस्तुत भाषा द्वन्द्व और असमंजस को प्रकट करने में सफल हुई है। यह राकेश की अपूर्व क्षमता ही है, जिसे इन्होंने भाषा के एक–एक शब्द में गढ़ा है। असमंजस एवं शंकाओं को प्रकट करता हुआ कथन–

''नन्द : कह नहीं सकता कौन? सा उन्माद अधिक भयानक है, वह जो चेतना की ग्रंथियों को तोड़ देता है या वह जो उनमें एक ज्वार ले आता है। (पलभर सुन्दरी की ओर देखता रहता है)''[66]

यहाँ पर नन्द का द्वन्द्व और उसकी छटपटाहट स्पष्ट रूप से झलक रही है, जो स्वयं नन्द नहीं समझ पाता कि उसके साथ क्या हो रहा है, परन्तु भाषा नन्द के द्वन्द्व और भय के बीच का अर्थ प्रकट कर रही है। अतः यह स्पष्ट है कि राकेश ने भाषा की उन सभी विशेषताओं को शामिल किया है, जो एक नाटकीय पात्र में होनी चाहिए। कभी भाषा अपना यथार्थ रूप धारण कर लेती है, तो कभी विरागता का राग प्रस्तुत करती है, जिसमें स्वगत कथन बहुत लम्बे हो गए, परन्तु भाषा अपना रूप शिथिल नहीं करती है, बल्कि गतिशीलता के साथ अपना सौन्दर्य प्रकट करती है। इस भाषायी द्वन्द्व के सन्दर्भ में 'रमेश गौतम' लिखते हैं–''एक तरफ सौन्दर्य पूर्ण, कोमल, झंकृत कर देने वाले शब्द है, तो दूसरी ओर जीवन के सत्य को दर्शन कराती गम्भीर, प्रसादात्मक शब्दावली इन दोनों के बीच नन्द रूपी द्वन्द्व है, जो किसी 'एक' का चुनाव नहीं कर पाता, बीच में उलझा हुआ सा दिखता रहता है और यह द्वन्द्व ही इस नाटक की आन्तरिक लय बन गया है।''[67] प्रस्तुत नाटक में भाषा के माध्यम से व्यंग्यात्मक,

ध्वन्यात्मक, बिम्बात्मक, व्यंजनात्मक शक्तियाँ भी प्रकट हो रही है। राकेश की भाषा के सन्दर्भ में गिरीश रस्तोगी ने लिखा है ''राकेश की नाट्य भाषा की पहली पहल पहचान है भाषा और शारीरिक क्रिया का, भाषा और मनःस्थिति का गहरा सम्बन्ध, समय, जीवन और दृष्टि बदलने के साथ–साथ भाषा एवं उसकी लय भी अपने आप बदलती जाती है।''[68]

'आधे–अधूरे' की नाट्य भाषा सामाजिक वातावरण के अनुकूल चलने वाली व्यावहारिक भाषा है। आषाढ़ का एक दिन में जहाँ संस्कृतनिष्ठ तत्सम प्रधान भाषा का प्रयोग हुआ था, वहीं इसके विरीत आधे–अधूरे में नाटक में उर्दू अरबी, फारसी के साथ ही अंग्रेजी शब्दों का बहुलता से प्रयोग किया गया है। नाटक की भाषा में कृत्रिमता कहीं नहीं आने पायी है, बल्कि व्यावहारिक कलेवर में बंधी लोक प्रचलित भाषा है। उर्दू शब्द की बहुलता फर्ज, शरम, हवास, गुम नाशुक्रे, लिजलिजापन, हासिल, गर्द गुबार, आरामतलब के साथ–साथ अंग्रेजी के भी शब्दों बॉस मीटिंग, बोर्ड, कबर्ड की बहुलता है। अपनी इस नाट्य कृति की भाषा के सन्दर्भ में मोहन राकेश ने लिखा है–''अपने तीसरे नाटक में मैंने अपने आस–पास के जीवन के यथार्थ को सीधे–सीधे पकड़नें की कोशिश की है और ऐसी भाषा की तलाश करने की कोशिश की, जो कि आम बोलचाल की सीधी और अधिकाधिक दर्शकों को सम्बोधित करने वाली भाषा हो।''[69] दोनों नाटकों की अपेक्षा इस नाटक की भाषा बिल्कुल अलग है, यह सीधे शिक्षित मध्यवर्गीय परिवार की बन गई है जहाँ हिन्दी के साथ अंग्रेजी भाषा के भी शब्द प्रयुक्त हुए है, जिनके तेवर बिल्कुल बदलें हैं। प्रस्तुत नाटक के पात्र जिस तरह सामाजिक यथार्थ से जूझ रहे हैं उसी तरह उनकी भाषा भी। यह यथार्थ कभी–कभी पात्रों की सच्चाई को जमीनी धरातल पर लाकर खड़ा कर देता है। उदाहरण के लिए प्रस्तुत है–

''स्त्री : शुक्र नहीं मनाते कि इतना बड़ा आदमी, सिर्फ एक बार कहने भर से .....।

पुरुष एक : मैं नहीं शुक्र मनाता ? जब–जब किसी नये आदमी का आना–जाना शुरू होता है यहाँ, मैं हमेशा शुक्र मनाता हूँ। पहले जगमोहन आया करता था, फिर मनोज आने लगा था.....।

स्त्री : (स्थिर दृष्टि से उसे देखती) और क्या–क्या बात रह गयी है कहनें को बाकी? वह भी कह डालो जल्दी से ।

पुरुष एक : क्यों..... जगमोहन का नाम मेरी जुबान पर आया नहीं कि तुम्हारे होशो–हवास गुम होने शुरू हो गए।

स्त्री : (गहरी वितृष्णा के साथ) जितने नाशुक्रे आदमी तुम हो, उससे तो मन करता है कि आज ही मैं .....।''[70]

यहाँ पर नाशुक्रे शब्द से सावित्री की कड़वाहट, उसके स्वभाव और आक्रोश के माध्यम से प्रकट होता है।

इस नाटक की भाषा शैली की सबसे प्रमुख विशेषता यह है कि जिस गत्यात्मकता के साथ इसका प्रारम्भ होता है, उसी गतिशीलता के साथ उसका समापन भी। बीच में कहीं भी कोई शिथिलता या रूकावट नहीं मिलती है, न भाषा की न कृत्रिमता की। उदाहरण के लिए–

''पुरुष एक : आ गयी दफ्तर से लगता है आज बस जल्दी मिल गयी ?

स्त्री : यह अच्छा है कि दफ्तर से आओ, तो कोई घर पर दिखे नहीं कहाँ? कहाँ चले गये थे तुम?

''पुरुष एक : कहीं नहीं। यहीं बाहर था। मार्केट में।

स्त्री : पता नहीं यह क्या तरीका है इस घर का ? रोज आने पर पचास चीजें यहाँ वहाँ बिखरी मिलती है।

''पुरुष एक : लाओ, मुझे दे दो।

स्त्री : (पाजामें को झाड़कर फिर से तहाती हुई) अब क्या दे दूँ। पहले खुद भी तो देख सकते थे।''[71]

'पैरों तले की जमीन' मोहन राकेश का अन्तिम नाटक है। यह नाटक अत्यधिक अकेलेपन, अजनबीयत, कुण्ठा, द्वन्द्व, संत्रास को झेल रहे आधुनिक पात्रों की कथावस्तु है। इस नाटक के पात्र एक क्लब में फँस जातें हैं और बढ़तें पानी के प्रकोप से अपने को मृत्यु के भय से ग्रस्त पातें हैं। जैसे–जैसे मृत्यु का भय बढ़ता जाता है वैसे–वैसे ही भाषा का सशक्त रूप प्रकट होता जाता है। सभी पात्र किसी न किसी अपराध बोध से ग्रसित है और अपनी इस यर्थाथता को अभिधात्मक शक्ति के माध्यम से प्रकट करते हैं। जैसे–जैसे पात्रों का स्वरूप बदलता जाता है, वैसे ही भाषा की अनुकूलता भी। इस नाटक की भाषा अपनी व्यंजनात्मक शक्ति को प्रकट करती है। इस सन्दर्भ में प्रतिभा अग्रवाल की एक टिप्पणी उल्लिखित है–''पैरों तले की जमीन भी आधुनिक जीवन की विसंगति, अवसाद एवं घुटन को लेकर लिखा गया नाटक है। इस नाटक की मूल प्रवृत्ति अस्तित्ववादी है, परिवेश घर से बाहर कश्मीर में एक टूरिस्ट क्लब है। पात्र सब अलग–अलग है, तथापि नियति ने उस एक दिन के लिए उन्हें एक स्थल पर ला रखा है और अचानक भयंकर बाढ़ के कारण टूरिस्ट क्लब को शहर से जोड़नें वाला पुल टूटनें लगता है और उनका सम्पर्क बाहर की दुनिया से कट जाता है। आसन्न मृत्यु की छाया में उन पात्रों की परिवर्तित मनोवृत्ति का बड़ा मनोवैज्ञानिक विश्लेषण एवं चित्रण

राकेश ने किया है। कुछेक घण्टों के बाद बाढ़ के पानी के कम होने की सूचना मिलती है, टेलीफोन की घण्टी बज उठती है, जीवन के बचने का आश्वासन मिलता है, सब कुछ पुनः पहले सी मनःस्थिति को प्राप्त होतें हैं।''[72] मृत्यु के पूर्व सभी पात्र अपनी–अपनी इच्छाएँ पूरा करना चाहते हैं। जैसे–जैसे भय बढ़ता जाता है, भाषा के लिए भी एक चुनौती बढ़ती जाती है, परन्तु प्रस्तुत नाटक के सभी पात्रों ने यह चुनौती स्वीकार की और भाषा को नवीन आयाम दिया। भाषा के साथ ध्वन्यात्मक अभिव्यक्ति भी नाटक को कलात्मक स्वरूप प्रदान करती है। एक उदाहरण प्रस्तुत है–

''पण्डित : वह आदमी ठीक कहता है।

झुनझुनवाला : क्या ठीक कहता है?

पण्डित : ऐसी औरत जो मौत के खतरे के बावजूद साथ दे सके।

झुनझुनवाला : ऐसी औरत होती है.....।

पण्डित : होती है।

झुनझुनवाला : कहाँ देखी है ?.....

पण्डित : अपने घर में, मेरी औरत.....।

झुनझुनवाला : क्या मतलब ?

पण्डित : मेरी औरत। मेरी बीवी। जो मौत के खतरे के बावजूद तेरा साथ दे सकती है।

झुनझुनवाला : (इधर–उधर देखकर) क्या बक रहा है तू ?

पण्डित : तुझे मेरी बीबी की नहीं इस वक्त अपनी इज्जत का ख्याल है.....

झुनझुनवाला : यह इल्जाम है।

पण्डित : तुझ पर नही.....खुद अपने पर। ओह यह जिल्द।''[73]

प्रस्तुत कथन में एक तीखा व्यंग्य, उलझन, खीज, हतासा, अपराध बोध इत्यादि ही नहीं बल्कि भाषा का तटस्थ स्वरूप भी प्रकट हो रहा है।

(5) वेश–भूषा एवं साज–सज्जा–

नाटक में वेश–भूषा एवं साज–सज्जा का अत्यन्त महत्वपूर्ण योगदान है। यही वह माध्यम है, जिसके कारण पाठक आकर्षित होते हैं। जिस तरह नाटक की भाषा एवं संवाद–योजना नाटक के अंग है, उसी तरह रंगमंचीयता की सजावट, ध्यानाकर्षण के लिए पात्रों की वेशभूषा और उनकी साज सज्जा। यही वह उपादान है, जिसके माध्यम से पाठक यह अनुभव कर पाता है कि पात्र की मनोदशा, चरित्र,स्वभाव अवस्था इत्यादि क्या है? लेखक ने 'आषाढ़ का एक दिन' एंव 'लहरों के राजहंस' नाटक की वेश–भूषा एवं साज–सज्जा तत्कालीन युग को देखते हुए कलाकार के ऊपर ही छोड़ रखा है, परन्तु अपने आधुनिक नाटक में आधे–अधूरे में ग्यारह से बारह पात्र रखें हैं, जो सहायक एवं प्रधान पात्र के रूप में भूमिका निभाते हैं–एक काला सूट पहने हुए पुरुष अपने अलग–अलग किरदारों में मंच पर उपस्थिति होता है। पुरुष एक का प्रतिनिधित्व करते हुए महेन्द्रनाथ है, जो पतलून और कमीज पहनें हुए हैं। पूरे मंच पर इनकी यही वेश–भूषा देखने को मिलती हैं यह नाटक का केन्द्रीय पात्र है और सावित्री का पति है। पुरुष दो के रूप में सिंघानिया हमारे सामनें आतें हैं। इन्होनें पतलून और बन्द गले का कोट पहन रखा है। पहनावें से ये शरीफ लगतें हैं, परन्तु सन्तुष्ट कभी नहीं रहतें। नाटक में इनकी भी एक ही पोशाक दिखाई गई है। पुरुष तीन के रूप में सावित्री के प्रेमी जगमोहन

नजर आतें हैं, इन्होंने पतलून और टीशर्ट पहन रखा है। ये सिगरेट के शौकीन है, मंच पर पीते नजर आतें हैं। पुरुष चार के रूप में जुनेजा अपनी उपस्थिति दर्ज करातें हैं, ये महेन्द्र के खास मित्र हैं, इन्होंने पतलून के साथ काट का लम्बा कोट पहन रखा है एवं काइयाँपन इनके चरित्र की एक विशेषता है। सावित्री की वेशभूषा उसी की अवस्था के अनुसार है। वह साधारण ब्लाउज और साड़ी में नजर आती है, परन्तु एक साड़ी विशेष अवसरों के लिए रखी है। इस सन्दर्भ में डॉ. आभा गुप्ता लिखती हैं–"दो तरह की साड़ियों का निर्देश महज संयोग नहीं है, बल्कि नाटककार ने बदलते माहौल और सावित्री की मनःस्थिति के परिवर्तन को रेखाकिंत करने के लिए सोच समझकर नियोजित किया है।"[74]

बड़ा लड़का अशोक पतलून के अन्दर किए हुए भड़कीली बुश्शर्ट जो धुल–धुलकर घिस गई है जिसे पहन कर मंच पर उपस्थित होता है। छोटी लड़की चुस्त फ्रॉक पहने हुए है, परन्तु उसके एक मोजे में सुराख है जिसको पहनकर मंच पर आती है।

(6) रंगमंचीयता की दृष्टि से नाटक–

हिन्दी नाट्य इतिहास में मोहन के तीनों नाटक विभिन्न स्तरों पर बहुत बड़े परिवर्तन एवं दिशा संकेत को लेकर उपस्थित होतें हैं, जिसके प्रभाव से हिन्दी रंगमंच भी प्रभावित होता है। रंगमंच वह स्थान होता है जहाँ नाटक प्रस्तुत किया जाता है या अभिनय किया जाता है। मोहन राकेश के पूर्व हिन्दी रंगमंच में वह सरसता नही थीं, जो इनके नाट्यमंचन के पश्चात् दिखी। वैसे तो नाट्य परम्परा प्राचीन काल से ही चली आ रही थी फिर भी हमारे यहाँ उपयुक्त रंगमंच का सदैव अभाव रहा। आधुनिक युग में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने अनेक नाटक लिखे और अपने युग के साहित्यकारों से लिखवाया तथा अभिनय भी करवाया, उससे जो सरसता

एवं गतिशीलता रंगमंच पर आयी, वह जयशंकर प्रसाद के समय तक आते–आते बिल्कुल शिथिल हो गयी। इसका कारण सिर्फ उपयुक्त नाटकों का अभाव ही नहीं, बल्कि नाटक का रंगमंच के अनुकूल न होना भी था। इस अपूर्ति के सन्दर्भ में मोहन राकेश कहतें हैं–''एक तो अपने यहाँ, विशेष रूप से हिन्दी में, उस तरह का संगठित रंगमंच है ही नहीं, जिसमें नाटककार के एक निश्चित अवयव होनें की कल्पना की जा सकें, दूसरे उस तरह की कल्पना के लिए मानसिक पृष्ठभूमि भी अब तक बहुत कम तैयार हो पायी है। रंगमंच का जो स्वरूप हमारे सामनें हैं, उसकी पूरी कल्पना परिचालक और उसकी अपेक्षाओं पर निर्भर करती है।''[75]

सन् 1958 में प्रकाशित मोहन राकेश की प्रथम नाट्य कृति 'आषाढ़ का एक दिन' विशेष रूप से उल्लेखनीय है, जिसमें लेखक ने पाश्चात्य रंगमंच से प्रभावित हो रहे रंगमंच के विकास के लिए मौलिक दृष्टिकोण प्रदर्शित करते हुए आत्मकथन व्यक्त किया है–''हिन्दी नाटक रंगमंच की किसी विशेष परम्परा के साथ अनुस्यूत नहीं है। पाश्चात्य रंगमंच की उपलब्धि ही हमारे सामनें हैं। परन्तु न तो हमारा जीवन उन सब उपलब्धियों की मांग करता है और न ही यह सम्भव प्रतीत होता है कि हम उस रंग शिल्प को व्यापक रूप से ज्यो का त्यों अपने यहाँ प्रतिष्ठित कर दें।''[76]

राकेश जी ने नाटक को रंगमंच का माध्यम मानकर नहीं, बल्कि उसका महत्वपूर्ण अंग मानकर रचा है, जिससे नाटक में सर्वत्र गतिशीलता देखने को मिलती है। यही कारण है कि 'आषाढ़ का एक दिन' सम्पूर्ण पूर्व नाट्य परम्परा को तोड़ता है और हिन्दी नाट्य क्षेत्र में एक नवीन आयाम स्थापित करता है। नाटक और रंगमंच के परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध पर बल देने के साथ ही साथ राकेश जी हिन्दी के निजी रंगमंच की बात भी

बराबर करते आए हैं इनका मानना था कि हिन्दी रंगमंच का विकास पाश्चात्य परम्परा के आधार पर होने के कारण उसका मूल रूप अभी तक निखर नही पाया है, क्योंकि उनके अनुसार हिन्दी नाटक के नए रंग शिल्प के विकास यात्रा के लिए जिस तरह के रंगभूमि की आवश्यकता है, वह पाश्चात्य रंगमंच की अपेक्षा अधिक खुला होना चाहिए। यह कार्य सिर्फ नवीन नाटकों से ही नहीं, बल्कि लोकरुचि और भारतीय परम्परागत मूल्यों को ध्यान में रखते हुए ही विकसित किया जा सकता है। राकेश जी ने रंगमंच की उपयोगिता को ध्यान में रखते हुए ही नाटकों की रचना की है। कथावस्तु की दृष्टि से 'आषाढ़ का एक दिन' नाटक उपयुक्त है। नाटक ऐतिहासिक होते हुए भी कथा विस्तृत नहीं होने पायी है। सम्पूर्ण नाटक तीन ही अंक में समाप्त हो जाता है, पात्रों की योजना भी रंगमंच को ध्यान में रखते हुए नियोजित किया गया है। पात्रों की संख्या कम होने पर भी नाटक शिथिल नही हो पाया है, बल्कि सर्वत्र रंगमंच पर एक गतिशीलता दिखती है। कुछ पात्रों की कल्पना लेखक ने इतनी सटीक की है कि उनके न रहने पर जैसे नाटक की सजीवता एवं रोचकता ही समाप्त हो जाती। विलोम एक ऐसा ही पात्र है जो उसी समय उपस्थित होता है, जहाँ मल्लिका और अम्बिका के द्वन्द्व से रंगमंच पर शिथिलता बढ़नें लगती है, उसकी उपस्थिति से रंगमंच जीवंत हो उठता है। इसी को लक्ष्य करते हुए लेखक ने रंगिणी, संगिणी एवं अनुस्वार, अनुनासिक की कल्पना की है, जिसकी उपस्थिति से रंगमंच पर हास्य भाव का पुट झलकता है। प्रस्तुत नाटक की भाषा संस्कृतनिष्ठ होने के कारण रंगदोष अवश्य प्रस्तुत करती है, परन्तु उसके ऐतिहासिकता एवं देशकाल वातावरण को देखते हुए उपयुक्त है। संवाद भी न बहुत विस्तृत है और न ही अत्यन्त छोटे, बल्कि मध्यम स्तर के होने के कारण रंगमंच की अनुकूलता निर्धारित करतें हैं।

लेखक ने नाटक में बिम्ब योजना का भी गठन किया है, जो अपना उपयुक्त अर्थ प्रकट करते हैं। मल्लिका के गीले और सूखते कपड़े, घर की गिरती दिवारें, घोड़े के टापों की आवाज, मूसलाधार बारिश घर में वस्तुओं का अभाव आदि अपना उचित संकेत प्रस्तुत करते हैं।

लहरों के राजहंस की कथावस्तु भी रंगमंच अनुकूल है, क्योंकि किसी भी नाटक को अभिनियता प्रदान करने के लिए उसकी कथावस्तु सुगठित होनी चाहिए, इसके प्रति राकेश जी प्रारम्भ से जागरूक रहें हैं। विषयवस्तु लगभग संक्षिप्त ही है, फिर भी लेखक ने आभिनियता का पूरा ख्याल रखा है। प्रस्तुत नाटक में रंगमंच की सुविधा के लिए तीन ही अंको की योजना बनाई गई है और अंको का संक्षिप्त विस्तार भी किया गया है एवं उसी के अनुरूप पात्रों की कल्पना की गई है। सहायक पात्रों की संख्या अधिक है, परन्तु मंच पर विशेष रूप से नन्द, सुन्दरी, अलका, श्यामांग, श्वेतांग एवं कुछ समय के लिए आर्य मैत्रेय ही उपस्थित होतें हैं। आवश्यकतानुसार गौण पात्र रंगमंच को सजीवता प्रदान करते हैं।

लेखक ने भाषा भी मंच के ही अनुकूल गढ़ी है, क्योंकि क्लिष्ट भाषा रंगमंच की प्रभावशीलता को कम करती है। संवाद की दृष्टि से थोड़ा बड़ें हैं, परन्तु काव्यात्मता सर्वत्र विद्यमान रही है, जिससे रंगमंच का वातावरण बोझिल नहीं होने पाया है। बीच–बीच में नन्द–सुन्दरी के संवाद श्रृंगारिक छटा बिखेरतें रहें हैं, जिसके कारण रंगमंच पर रोमानियत का वातारण फैल जाता है, छोटे–छोटे संवाद भी अधिक है।

इस नाटक में अन्य कारको के अलावा बिम्बात्मक चिन्ह भी प्रभावी है, सरोवर से हंसो का पलायन, दर्पण का टूटना, हवा के झोके से दरवाजे का खुलना, बन्द होना, कमल ताल पर ओंस की बूंदे, कबूतरों की आवाज,

नन्द का व्याध्र से लड़ना, घायल हरिण शावक और श्यामांग की मानसिक स्थिति आदि सभी प्रतीक अपना उचित अर्थ संकेत प्रकट करते हैं, जिससे मूल अभिव्यक्ति को आसानी से मंच पर प्रदर्शित किया जा सकता है।

आधे–अधूरे एक आधुनिक नाटक है। प्रस्तुत नाटक के सभी पात्र द्वन्द्व में जीते हुए अपने अधूरेपन से ग्रसित है। इस नाटक का कथानक रंगमंच के बिल्कुल अनुकूल है। इसकी सबसे बड़ी विशेषता यह है कि पात्र जिस प्रकार से रंगमंच पर उपस्थित होतें हैं, उसी गतिशीलता के साथ अन्त तक निरन्तरता बनाएँ रखतें हैं। पात्रों की योजना आधुनिक रंगमंच को देखते हुए की गई है। मंच पर प्रमुख रूप से सावित्री, महेन्द्र, जुनेजा, अशोक और किन्नी, बिन्नी ही उपस्थित होती हैं, बाकी पात्र समयानुसार अपनी उपस्थिति दर्ज करातें रहतें हैं। भाषा की दृष्टि से भी नाटक सफल रहा है, व्यावहारिक आम–बोलचाल की भाषा के साथ ही अंग्रेजी के शब्द 'वो माई गॉड, कबर्ड, बॉस, मीटिंग, बोर्ड भी मिलतें हैं। वर्तमान को देखते हुए लेखक ने इस भाषा का प्रयोग करना उचित समझा है। इस नाटक में भी लेखक ने बिम्बों का सहारा लिया है। जैसे–अशोक द्वारा कैंची से मैंगजीन के कागजों को काटने की आवाज, महेन्द्र का फाइल झाड़ना, सावित्री का घर की वस्तुओं को समेटना, किन्नी द्वारा दरवाजे की कुण्डी बन्द करना आदि रंगयुक्तियों के माध्यम से रंगमंच और भी सजीव हो उठता है। पुरुष चार का तीसरे अंक में सावित्री के साथ चलता लम्बा संवाद ऊबाऊ नहीं, बल्कि सम्पूर्ण नाटक के सार को एक ही तारतम्य के साथ प्रस्तुत कर देता है। अशोक नकारा अवश्य है, परन्तु अपनी मूक अभिव्यक्ति से छुपे हुए रहस्यों को प्रकट करता है।

नाटक 'पैरों तले की जमीन' भी अपनी कथावस्तु एवं आधुनिक भावबोध के कारण रंगमंच के बिल्कुल अनुकूल है। इस नाटक की सारी

क्रियाएँ एक ही टूरिस्ट क्लब में होती है। भाषा भी रंगमंच के अनुकूल ही है, पात्रों की संख्या तथा उनका चरित्र निरूपण लेखक ने रंगमंच एवं वर्तमान समाज को देखते हुए ही किया है। अन्य पात्र भी समय–समय पर अपनी उपस्थिति दर्ज करातें हैं। जैसे–जैसे मृत्यु का भय बढ़ता जाता है वैसे–वैसे रंगमंच की गतिशीलता बढ़ती जाती है। रंगमंच के सन्दर्भ में मोहन राकेश लिखतें हैं–''रंगप्रक्रिया एक निरंतर एवं जटिल प्रक्रिया है। जिसके बीच के क्रम में निर्देशक और अभिनेता की तरह ही शब्दों के स्तर पर बार–बार प्रयोग करते रहना आवश्यक है। इस तरह के आपसी सामंजस्य एवं निरंतर प्रयोग के द्वारा ही उस वातावरण की स्रष्टि की जा सकती है जिसमें रंगमंच की वास्तविक खोज शामिल हो लेखन के स्तर पर भी और निर्देशन के स्तर पर भी।''[77]

अपने समय में नाटककार जयशंकर प्रसाद ने भी हिन्दी नाट्य रंगमंच के विकास के लिए इसी तरह की धारणाओं का समर्थन करते हुए लिखा है ''रंगमंच के सम्बध में यह भारी भ्रम है कि नाटक रंगमंच के लिए लिखे जाए। प्रयत्न तो यह होना चाहिए कि नाटक के लिए रंगमंच हो, जो व्यावहारिक है। हाँ, रंगमंच पर सुशिक्षित और कुशल अभिनेता तथा मर्मज्ञ सूत्रधार के सहयोग की आवश्यकता है। इन सबके सहयोग से ही हिन्दी रंगमंच का अभ्युत्थान सम्भव है।''[78]

संदर्भ ग्रन्थ सूची

1. रस्तोगी, गिरीश, हिन्दी नाटक का आत्म संघर्ष, लोक भारती प्रकाशन, प्रथम संस्करण 2002, पृ0सं0 135।
2. राकेश, मोहन, आषाढ़ का एक दिन, राजपाल एण्ड सन्ज प्रकाशन, संस्करण 2017, पृ0सं0 13।
3. वही, पृष्ठ सं0 31।
4. वही, पृष्ठ सं0 46।
5. वही, पृष्ठ सं0 72।
6. वही, पृष्ठ सं0 78।
7. वही, पृष्ठ सं0 89।
8. वही, पृष्ठ सं0 92।
9. वही, पृष्ठ सं0 93।
10. रस्तोगी, गिरीश, मोहन राकेश और उनके नाटक, लोक भारती प्रकाशन, पंचम संस्करण 2015, पृ0सं0 62।
11. चतुर्वेदी, डॉ0 शोभा, चरित्र निरूपण और मोहन राकेश, आकाश पब्लिशर्स एण्ड डिस्ट्रीब्यूटर्स, प्रथम संस्करण 2014, पृ0सं0 63।
12. राकेश, मोहन, लहरों के राजहंस, राजकमल पेपरबैक्स प्रकाशन, दूसरा संस्करण 2020, पृ0सं0 59।
13. वही, पृष्ठ सं0 79।
14. वही, पृष्ठ सं0 113।
15. वही, पृष्ठ सं0 125।
16. वही, पृष्ठ सं0 128।
17. वही, पृष्ठ सं0 125।

18. रस्तोगी, गिरीश, हिन्दी नाटक का आत्मसंघर्ष, लोक भारती प्रकाशन, प्रथम संस्करण 2002, पृ0सं0 163।
19. जैन, नेमिचन्द्र, मोहन राकेश के सम्पूर्ण रचनाएँ, राजपाल एण्ड सन्ज प्रकाशन, संस्करण 2019, पृ0सं0 315।
20. वही, पृष्ठ सं0 285।
21. वही, पृष्ठ सं0 288।
22. रस्तोगी, गिरीश, हिन्दी नाटक का आत्मसंघर्ष, लोकभारती प्रकाशन, प्रथम संस्करण 2002, पृ0सं0 167।
23. ठाकुर, गुप्ता, डॉ0 आभा, समय के निकष पर मोहन राकेश का रंगकर्म, विश्वविद्यालय प्रकाशन वाराणसी, प्रथम संस्करण 2008, पृ0सं0 156।
24. जैन, नेमिचन्द्र, मोहन राकेश के सम्पूर्ण नाटक, राजपाल एण्ड सन्ज प्रकाशन, संस्करण 2019, पृ0सं0 54।
25. वही, पृष्ठ सं0 452।
26. वही, पृष्ठ सं0 432।
27. तेनजा, जयेदव, नाट्य विमर्श, अंकुर प्रकाशन, दूसरा संस्करण 2012, पृ0सं0 133।
28. राकेश, मोहन, आषाढ़ का एक दिन, राजपाल एण्ड सन्ज प्रकाशन, संस्करण 2017, पृ0सं0 14।
29. ठाकुर, गुप्ता, डॉ0 आभा, समय के निकष पर मोहन राकेश का रंगकर्म, विश्वविद्यालय प्रकाशन वाराणसी, प्रथम संस्करण 2008, पृ0सं0 73।
30. वही, पृष्ठ सं0 63।

31. त्रिपाठी, आशीष, कृति मूल्यांकन आषाढ़ का एक दिन, राजपाल एण्ड सन्ज प्रकाशन, प्रथम संस्करण 2019, पृ0सं0 73।
32. राकेश, मोहन, आषाढ़ का एक दिन, राजपाल एण्ड सन्ज प्रकाशन, संस्करण 2017, पृ0 सं0 39।
33. वही, पृष्ठ सं0 64।
34. वही, पृष्ठ सं0 57।
35. रस्तोगी, गिरीश, हिन्दी नाटक का आत्मसंघर्ष, लोक भारती प्रकाशन, प्रथम संस्करण 2002, पृ0सं0 195।
36. राकेश, मोहन, लहरों के राजहंस, राजकमल पेपरबैक्स, दूसरा संस्करण 2020, पृ0सं0 119।
37. वही, पृष्ठ सं0 28।
38. चतुर्वेदी, डॉ0 शोभा, चरित्र निरूपण और मोहन राकेश, आकाश पब्लिशर्स एण्ड डिस्ट्रीब्यूटर्स, प्रथम संस्करण 2014, पृ0सं0 186।
39. राकेश, मोहन, लहरों के राजहंस, राजकमल पेपरबैक्स, दूसरा संस्करण 2020, पृ0सं0 93।
40. तनेजा, जयदेव, आधुनिक भारतीय नाट्य विमर्श, राधाकृष्ण प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड, पहला संस्करण 2010, पृ0सं0 101।
41. वही, पृष्ठ सं0 102।
42. गौतम, रमेश, हिन्दी रंगभाषा स्वरूप और विकास, स्वराज प्रकाशन, प्रथम संस्करण 2015, पृ0सं0 113।
43. रस्तोगी, गिरीश, हिन्दी नाटक का अत्मसंघर्ष, लोक भारती प्रकाशन, प्रथम संस्करण 2002, पृ0सं0 179।
44. जैन, नेमिचन्द्र, मोहन राकेश के सम्पूर्ण नाटक, राजपाल एण्ड सन्ज प्रकाशन, संस्करण 2019, पृ0सं0 287।

45. गौतम, रमेश, हिन्दी रंगभाषा स्वरूप और विकास, स्वराज प्रकाशन, प्रथम संस्करण 2018, पृ0सं0 102।
46. जैन, नेमिचन्द्र, मोहन राकेश के सम्पूर्ण नाटक, राजपाल एण्ड सन्ज प्रकाशन, संस्करण 2019, पृ0सं0 262।
47. रस्तोगी, गिरीश, हिन्दी नाटक का आत्मसंघर्ष, लोकभारती प्रकाशन, प्रथम संस्करण 2002, पृ0सं0 179।
48. जैन, नेमिचन्द्र, मोहन राकेश के सम्पूर्ण नाटक, राजपाल एण्ड सन्ज प्रकाशन, संस्करण 2019, पृ0सं0 427।
49. ठाकुर, गुप्ता, डॉ0 आभा, समय के निकष पर मोहन राकेश का रंगकर्म, विश्वविद्यालय प्रकाशन वाराणसी, प्रथम संस्करण 2008, पृ0सं0 52।
50. ठाकुर, गुप्ता, डॉ0 आभा, समय के निकष पर मोहन राकेश का रंगकर्म, विश्वविद्यालय प्रकाशन, प्रथम संस्करण 2008, पृ0सं0 60।
51. तनेजा, जयदेव, मेरे साक्षात्कार मोहन राकेश, किताब घर प्रकाशन, संस्करण 2011, पृ0सं0 40।
52. राकेश, मोहन, आषाढ़ का एक दिन, राजपाल एण्ड सन्ज प्रकाशन, संस्करण 2017, पृ0सं0 15।
53. ठाकुर, गुप्ता, डॉ0 आभा, समय के निकष पर मोहन राकेश का रंगकर्म, विश्वविद्यालय प्रकाशन, प्रथम संस्करण 2008, पृ0सं0 65।
54. रस्तोगी, गिरीश, मोहन राकेश और उनके नाटक, लोक भारती प्रकाशन, पंचम संस्करण 2015, पृ0सं0 122।
55. राकेश, मोहन, आषाढ़ का एक दिन, राजपाल एण्ड सन्ज प्रकाशन, संस्करण 2017, पृ0सं0 39।

56. त्रिपाठी, आशीष, कृति मूल्यांकन आषाढ़ का एक दिन, राजपाल एण्ड सन्ज प्रकाशन, प्रथम संस्करण 2019, पृ0सं0 169।
57. राकेश, मोहन, लहरों के राजहंस, राजकमल पेपरबैक्स, दूसरा संस्करण 2020, पृ0सं0 83।
58. वही, पृष्ठ सं0 83।
59. वही, पृष्ठ सं0 65।
60. वही, पृष्ठ सं0 64।
61. वही, पृष्ठ सं0 62।
62. गौतम, रमेश, हिन्दी रंगभाषा स्वरूप और विकास, स्वराज प्रकाशन, प्रथम संस्करण 2018, पृ0सं0 121।
63. वही, पृष्ठ सं0 117।
64. वही, पृष्ठ सं0 112।
65. वही, पृष्ठ सं0 106।
66. वही, पृष्ठ सं0 105।
67. रस्तोगी, गिरीश, मोहन राकेश और उनके नाटक, लोक भारती प्रकाशन, पंचम संस्करण 2015, पृ0सं0 124।
68. तनेजा, जयदेव, नाट्य विमर्श–मोहन राकेश, अंकुर प्रकाशन, दूसरा संस्करण 2012, पृ0सं0 155।
69. जैन, नेमिचन्द्र, मोहन राकेश के सम्पूर्ण नाटक, राजपाल एण्ड सन्ज प्रकाशन, संस्करण 2019, पृ0सं0 234।
70. वही, पृष्ठ सं0 248।
71. रस्तोगी, गिरीश, मोहन राकेश और उनके नाटक, लोकभारती प्रकाशन, पंचम संस्करण 2015, पृ0सं0 124।

72. जैन, नेमिचन्द्र, मोहन राकेश के सम्पूर्ण नाटक, राजपाल एण्ड सन्ज प्रकाशन, संस्करण 2019, पृ0सं0 411।
73. वही, पृष्ठ सं0 51।
74. वही, पृष्ठ सं0 53।
75. वही, पृष्ठ सं0 53।
76. वही, पृष्ठ सं0 58।
77. वही, पृष्ठ सं0 61।
78. वही, पृष्ठ सं0 72।

उपसंहार

मोहन राकेश आधुनिक युग के प्रसिद्ध नाटककार रहे हैं। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र और जयशंकर प्रसाद के पश्चात् यदि किसी ने लीक से हटकर कार्य किया है, तो वो है 'मोहन राकेश'। वस्तुतः मोहन राकेश की रचनाओं का स्रोत उनके स्वयं का व्यक्तित्व ही था। 'आषाढ़ का एक दिन','लहरों के राजहंस' ऐतिहासिक होते हुए भी आधुनिक भाव–बोध से संपृक्त हैं। 'आधे–अधूरे', 'पैरों तले की जमीन' नाटक के पात्र आधुनिक मानव जीवन की भाँति द्वन्द्व, घुटन, संत्रास, अजनबीयत एवं खोखलेपन आदि भावों से ग्रसित है। अपने इस लघु शोध प्रबन्ध में मैंने लगभग सभी सामाजिक पहलुओं पर विश्लेषण किया है। लेखक का जन्म एक मध्यवर्गीय परिवार में होता है। पिता जी के न रहने पर कम उम्र में ही घर की जिम्मेदारी उठानी पड़ती है जैसे–तैसे अध्ययन कार्य पूर्ण होता है। वैवाहिक एवं व्यावसायिक जीवन बहुत ही विसंगतियों से भरा रहता है, परन्तु जीवन के संघर्षो से हार न मानते हुए स्वतन्त्र लेखन कार्य किया। घूमना–फिरना, जोर–जोर से ठहाके एवं दोस्तों के साथ रहना, बेहद पसन्द था। अपने रुचिकर कार्यो से कभी कोई समझौता नहीं किया। लेखक ने प्रमुख तीन नाटकों के अलावा कहानी, उपन्यास, निबन्ध आदि विधाओं में भी लेखन कार्य किया।

स्त्री शब्द नारी का ही पर्याय माना जाता है, स्त्री में लज्जा, सेवा, श्रद्धा, समर्पण, दयालुता और ममतामयी गुणों का समावेश स्वाभाविक रूप से होता है। 'चेतना' शब्द से तात्पर्य 'जागृति' से है। वह कोई भी जीवन्त वस्तु जो चैतन्य, बुद्धि–ज्ञान, स्मृति आदि मनोवृत्तियों से संपृक्त होती है, चेतना कहलाती है। स्त्री चेतना से आशय उन स्थितियों से है, जहाँ पर वह शिक्षित, सुसांस्कृतिक, देश, घर–परिवार, समाज में अपने कर्तव्यों के

प्रति सजग हो जाये और अपने अस्तित्व का बोध कर सकें एवं अपने पारिवारिक जीवन को सुखमय बना सकें तथा भारतीय परम्परा का अनुकरण करते हुये अपने बच्चों का उचित पालन–पोषण और योग्य शिक्षा प्रदान कर सकें इत्यादि।

मोहन राकेश ने अपने नाटकों के माध्यम से स्त्री चेतना के विविध आयामों को भी चित्रित किया है, जिसमें लेखक ने विवाह संस्था के पारम्परिक दृष्टिकोण से लेकर मातृत्व के नवीन बदलावों तक का वर्णन किया है। प्रस्तुत नाटक में यदि नारी अपनी अस्मिता के लिए विरोध करती है, तो भारतीय परम्परागत मूल्यों को अपने जीवन का आधार भी बनाती है, अम्बिका और मल्लिका ऐसी ही पात्र है। एक तरफ पात्र आधुनिक भावबोध एवं द्वन्द्व में जीतें हैं, तो दूसरी तरफ धर्म एवं परम्परा का निर्वाहन भी करतें हैं। अपने अधूरेपन से ग्रसित पात्र यदि घर की आर्थिक तंगी से परेशान है, तो वो पूरी तरह से घर को छोड़ भी नहीं पातें हैं। बिन्नी एवं किन्नी में एक तरफ धृष्टता है, तो समय का बोध भी कम नहीं है। नाटकों की सभी नारी पात्र परम्पराओं को मानते हुए भी पुरुष सत्ता की बर्बरता का विरोध करती है। नाटक की साहित्यिकता के साथ उसकी शिल्पगत विशिष्टता भी अद्वितीय है। प्रस्तुत ऐतिहासिक नाटकों की भाषा–शैली अप्रतिम है। 'आषाढ़ का एक दिन' में भाषा संस्कृतनिष्ठ तत्सम प्रधान है, फिर भी बोझिल या उबाऊ नहीं लगती। ऊर्दू, फारसी, अरबी, एवं अंग्रेजी के शब्दों का भी खुलकर प्रयोग किया है।

एक तरफ लेखक ने इतिहास से कथानक को उठाया है, तो दूसरी तरफ आधुनिक जीवन की विसंगतियों को भी प्रस्तुत किया है। कथावस्तु बिल्कुल मध्यम स्तर की है। तीन ही अंको में सभी नाटक समाप्त हो जातें हैं। लेखक ने पात्रों की ऐसी योजना की है, जिससे समाज के प्रत्येक वर्ग

का प्रतिनिधित्व किया जा सकें और संवादों को ऐसे सुगठित किया है कि लम्बें स्वगत आत्मकथन भी उबाऊ नहीं लगते हैं। छोटे संवादों ने हास्य व्यंग्य का भी पुट प्रस्तुत किया है, वर्तमान दशा को देखते हुए लेखक ने पात्रों की वेश–भूषा का ख्याल रखा है। लेखक ने अपनी विश्लेषण क्षमता के द्वारा पूर्व नाट्य रंगमंच की परम्परा का खण्डन करते हुए, अपने नाटकों में नवीन मानदण्ड स्थापित किया है और हिन्दी रंगमंच को एक नयी दिशा प्रदान की है। इस प्रकार मोहन राकेश के सभी नाटक नाट्य प्रयोग की दृष्टि से सफल तो है ही और साथ ही साथ हिन्दी नाट्य इतिहास एवं समाज को एक नया मार्ग–दर्शन भी दिया है।

सन्दर्भ गन्थ–सूची

आधार ग्रन्थ–सूची

1. राकेश, मोहन, आधे– अधूरे, राजपाल एण्ड सन्ज प्रकाशन 2019।
2. राकेश, मोहन, आषाढ़ का एक दिन, राजपाल एण्ड सन्ज प्रकाशन 2017।
3. राकेश, मोहन, पैरों तले की जमीन, राजपाल एण्ड सन्ज प्रकाशन 2020।
4. राकेश, मोहन, लहरों के राजहंस, राजकमल पेपरबैक्स 2020।

सहायक ग्रन्थ–सूची

1. अग्रवाल, प्रतिभा, भारतीय साहित्य के निर्माता : मोहन राकेश, साहित्य अकादमी, द्वितीय संस्करण 1988।
2. किशोर, राज, स्त्री पुरुष : कुछ पुनर्विचार, वाणी प्रकाशन, संस्करण 2000।
3. खेतान, प्रभा, स्त्रीःउपेक्षिता, हिन्द पॉकेट बुक्स, द्वितीय संस्करण 1992।
4. गुप्ता, रमणिका, स्त्री मुक्ति संघर्ष और इतिहास, सामयिक पेपरबैक्स, संस्करण 2022।
5. गौतम, रमेश, हिन्दी रंगभाषा स्वरूप और विकास, स्वराज प्रकाशन दिल्ली।
6. गर्ग, संजय, स्त्री विमर्श का कालजयी इतिहास, सामयिक प्रकाशन, संस्करण 2014।
7. चतुर्वेदी, डॉ0 शोभा, चरित्र निरूपण और मोहन राकेश, आकाश पब्लिशर्स एण्ड डिस्ट्रीब्यूटर्स।

8. चतुर्वेदी, रामस्वरूप, हिन्दी साहित्य और संवेदना का विकास, लोकभारती प्रकाशन।
9. जैन, नेमिचन्द्र, मोहन राकेश के सम्पूर्ण नाटक, राजपाल 2005 सन्ज प्रकाशन।
10. ठाकुर गुप्ता, डॉ0 आभा, समय के निकष पर मोहन राकेश का रंगकर्म, विश्वविद्यालय वाराणसी प्रकाशन।
11. तनेजा, जयदेव, नाट्य विमर्श– मोहन राकेश, अंकुर प्रकाशन।
12. तनेजा, जयदेव, मेरे साक्षात्कार–मोहन राकेश, किताब घर प्रकाशन।
13. देवी, आशापूर्ण, सुवर्णलता, भारतीय ज्ञान प्रकाशन, प्रथम संस्करण 1978।
14. नगेन्द्र, हिन्दी साहित्य का इतिहास, मयूर पेपरबैक्स।
15. पालीवाल, कृष्णदत्त, नारी–विमर्श की भारतीय परम्परा, सस्ता साहित्य मण्डल प्रकाशन, प्रथम संस्करण 2014।
16. मिश्र, उदयन, साहित्य में नारी चेतना, वाणी प्रकाशन, प्रथम संस्करण 2017।
17. मिश्र, विश्वनाथ प्रसाद, हिन्दी साहित्य का सरल इतिहास, राजकमल प्रकाशन।
18. राकेश, अनीता, चन्द संतरे और, राधाकृष्ण प्रकाशन।
19. राकेश, मोहन, परिवेश, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन।
20. राकेश, मोहन, मोहन राकेश की डायरी, राजपाल एण्ड सन्ज प्रकाशन।
21. राकेश, मोहन, साहित्य और संस्कृति, राधाकृष्णन प्रकाशन, आवृत्ति 1990।

22. रस्तोगी, गिरीश, मोहन राकेश और उनके नाटक, लोकभारती प्रकाशन।
23. रस्तोगी, गिरीश, हिन्दी नाटक और रंगमंच : नई दिशाएँ, अभिव्यक्ति प्रकाशन, प्रथम संस्करण 1992।
24. लाल, लक्ष्मीनारायण, आधुनिक हिन्दी नाटक और रंगमंच, साहित्य भवन, द्वितीय संस्करण 1989।
25. शुक्ल, आचार्य रामचन्द्र, हिन्दी साहित्य का इतिहास, श्री प्रकाशन।
26. शुक्ल, राज नारायण, मोहन राकेश के कथा साहित्य में शिल्प, बी0आर0 पब्लिशिंग कॉर्पोरेशन दिल्ली।
27. सिंह, डॉ0 श्रीमती कृष्णा, आधुनिकतावाद और मोहन राकेश का कथा साहित्य, लोकभारती प्रकाशन।
28. सिंह, बच्चन, आधुनिक हिन्दी साहित्य का इतिहास, लोकभारती प्रकाशन।
29. सिंह, बच्चन, हिन्दी साहित्य का दूसरा इतिहास, लोकभारती प्रकाशन।
30. त्रिपाठी, आशीष, कृति मूल्यांकन आषाढ़ का एक दिन, राजपाल एण्ड सन्ज प्रकाशन, प्रथम संस्करण 2019।

पत्रिकाएँ

1. आलोचना, जुलाई–सितम्बर, 2021।
2. वागर्थ, जुलाई, 2021।
3. शोध समीक्षा, अक्टूबर, 2021।

पुस्तकालय

1. अमीर–उद–दौला पुस्तकालय, लखनऊ।

2. आचार्य नरेन्द्र देव पुस्तकालय, लखनऊ।
3. गौतम बुद्ध केन्द्रीय पुस्तकालय, लखनऊ।
4. जवाहर लाल नेहरू पुस्तकालय, रायबरेली।
5. पं0 दीनदयाल उपाध्याय पुस्तकालय, लखनऊ।
6. रवीन्द्र नाथ टैगोर पुस्तकालय, लखनऊ।
7. लाला लाजपत राय पुस्तकालय, लखनऊ।

वेबसाइट

1. htt://www.academicjournal.in/download/577/2-4-217-706.pdf.
2. http://shivangbhavsar.blogspot.com/2010/07/blog-post-7136.html?m=1
3. https://ddceutkal.ac.in/syllabus/MA-HINDI/p-9.pdf.
4. https://hindikunj.com/2008/11/blog-post-29.html?m=1
5. https://www.apnimaati.com/2017/03/blog-post-27.html?m=1
6. https://www.hindijournal.com/download/587/5-6-46-480.pdf.
7. https://www.iasbook.com/hindi/mohan-rakesh-ki-natya-srashti/